Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
अनुभूति
जब निज के सम्पूर्ण के, सत् की हो अनुभूति।
सजल सुकर्मों की झरे, तब उर स्वतः विभूति।।
डॉ. बुद्धि प्रकाश शर्मा

अनुभूति
(दोहा कृति)

डॉ० बुद्धि प्रकाश शर्मा

डॉ० बुद्धि प्रकाश शर्मा

जन्म	: २० नवम्बर १९४६, प्रातः ९:३०
जन्म-स्थान	: ग्राम- कतियावली, जनपद-बुलन्दशहर (उ.प्र.), भारतवर्ष।
माता-पिता	: स्व० ब्रह्मा देवी शर्मा स्व० पूर्ण चन्द्र शर्मा
बहिन	: श्रीमती माया देवी शर्मा, श्रीमती धनवती शर्मा, श्रीमती सन्तोष कुमारी
अनुज	: डॉ० राजेन्द्र कुमार शर्मा
शिक्षा	: एम.एस-सी. (भौतिकी, गणित); एम.एड्.; एम.फिल. (शिक्षाशास्त्र); पी-एच.डी. (शिक्षाशास्त्र)
विधा	: दोहे, गीत, कविता।
कृतित्व	: 'मैं'मैं' हूँ'; 'अविकल्प'; 'कर्म-बोध'; 'अनुभूति' के अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर रचनाएँ प्रकाशित।
सम्प्रति	: पूर्व रीडर, अध्यक्ष, शिक्षाशास्त्र-विभाग, वर्धमान कालेज, बिजनौर (उ.प्र.)।
सम्पर्क	: ३१५- नई बस्ती, बिजनौर (उ.प्र.)।
पिन	: २४६७०१
दूरभाष	: ०१३४२-२६३९३६

ज्ञान गगरी है यह 'अनुभूति'–

भक्त शिरोमणि महाकवि महात्मा गोस्वामी तुलसीदास जी की ये अनुभूत उपदेशात्मक पंक्तियाँ निःसन्देह सत्य की प्रतिमूर्ति हैं– ''बिन सत्संग विवेक न होई, राम कृपा बिनु सुलभ न सोई''। यह सत्संग सद्ग्रन्थों, सन्त-समाजों तथा सद्पुरुषों में से किसी एक का या सबका हो सकता है। मुझे भी माँ शारदा की अनुकम्पा तथा प्रभु राम की कृपा से इस सद्ग्रन्थ ''अनुभूति'' का अवलोकन तथा सत्संग करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। यह ग्रन्थ न केवल एक दोहा कृति है अपितु मेरे विचार से यह एक ''ज्ञान-गगरी'' है। इसके रचयिता डॉ. बुद्धि प्रकाश शर्मा, वर्धमान कालेज, बिजनौर के शिक्षा विभागाध्यक्ष पद से सेवा-निवृत्त शिक्षक हैं, जिनके पास अब शान्ति के क्षणों में साहित्य-साधना में लीन रहने का उपयुक्त एवं पर्याप्त समय है। डॉ. शर्मा जी के द्वारा रचित अनेक दोहों को पढ़कर उनके हृदय की विशालता उनके सञ्चित ज्ञान-अनुभव-अनुभूति तथा काव्य के सम्बन्ध में मुझे अंग्रेजी के महाकवि विलियम वर्ड्स-वर्थ द्वारा दी गयी कविता की परिभाषा स्मरण हो जाती है, वे कहते हैं-

Poetry is the spontaneous over flow of powerful feelings. It takes its origin from emotions recollected in tranquility.

अर्थात् कविता शान्ति के क्षणों में प्रबल मनोवेगों का स्वच्छन्द प्रवाह है। निःसन्देह प्रबल मनोवेग अथवा अनुभूतियाँ कविता को जन्म देती हैं। डॉ. शर्मा जी भी इसके अपवाद नहीं हैं, उन्होंने भी अपनी तथा पराई अनुभूतियों को अपनी दोहाकृति 'अनुभूति' में शब्दायमान किया है। वे इस काव्यकृति से पूर्व 'मैं 'मैं' हूँ', 'अविकल्प' तथा 'कर्म-बोध' जैसी आध्यात्मिक धरातल पर लिखी गई भारी भरकम दोहों वाली काव्यकृतियाँ भक्तजनों तथा साहित्य-अनुरागियों के लिये हिन्दी साहित्य को प्रदान कर चुके हैं, जिन्होंने ज्ञानियों, धर्मप्रेमियों, विद्वानों तथा सहृदय पाठकों को सहज या बलात् अपनी ओर आकर्षित किया है। कवि के विचित्र दोहा-शिल्प को जानने के लिये हमें दर्शन, भाषाशास्त्र, भाषाविज्ञान, परिष्कृत रुचि एवं गुरू ज्ञान की परमावश्यकता है। इस ज्ञान गगरी में 'अमिय', 'ज्ञान' 'मुक्तामणि', 'पारसमणि' आदि सब कुछ भरा है।

इस अवसर पर मुझे काव्य की भारतीय परिभाषा भी स्मरण हो रही हैं। पण्डितराज जगन्नाथ लिखते हैं– ''रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'' रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य होता है, इसी प्रकार साहित्यदर्पण के रचयिता आचार्य विश्वनाथ लिखते हैं– ''वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्'' अर्थात् रसात्मक वाक्य काव्य होता है। कविश्रेष्ठ डा. शर्मा जी के काव्य को इसी परिप्रेक्ष्य में देखने की आवश्यकता है। दोहाकृति का अनुशीलन, अध्ययन करने के पश्चात् मुझे ज्ञान हुआ कि इस दोहाकृति में संकलित दोहों में वर्ण्य विषयों की विशालता तथा विविधता उपलब्ध है, इसमें आत्मतत्त्व, आत्मा-परमात्मा, हृदय की अन्तःवाह्य स्थितियाँ, सत्-चित्-आनन्द, श्रद्धा-प्रेम, सत्-असत्, करुणा-दया-मैत्री, जड़-चेतन, प्रकृति-पुरुष, ज्ञान-विज्ञान, हित-अहित, ऋद्धि-सिद्धि, भवभूति-विभूति, राग-विराग, आशा-निराशा, यश-अपयश, चिन्तन-मनन, तर्क-वितर्क, जीव-जगत्, कर्म-सुकर्म, रूप-अरूप, जन्म-मरण, जीवन-ज्योति, व्यष्टि-समष्टि, मंगल-अमंगल, जय-पराजय, न्याय-अन्याय, विनाश-विकास, नियम-संयम, उचित-अनुचित, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, भय-अभय, शान्ति-क्लान्ति, स्थूल-सूक्ष्म, दैविक-दैहिक-भौतिक, सगुण-निर्गुण, गुण-अवगुण, नीति-अनीति, दोष-निर्दोष आदि विषयों की सुदृढ़ ईटों से कवि ने अपनी दोहाकृति का भव्य भवन निर्मित किया है। इस प्रकार अपनी भाव-भाषा तथा काव्यशैली की दृष्टि से यह काव्यकृति अनूठी ही कही जायेगी। अपने स्वरूप, आध्यात्मिक भाव-भूमि तथा उपदेशों के कारण यह **ज्ञान-गीता** भी कही जा सकती है। यह एक धर्मग्रन्थ जैसा भी प्रतीत होती है, जिसमें, अत्यन्त मनोयोग तथा परिश्रम से अपने प्रबल

मनोवेगों को कवि ने वाणी दी है।

दोहाकृति के अध्ययन से यह तथ्य तो बिल्कुल स्पष्ट है कि कवि ने अपनी हृदय-शक्ति की अपेक्षा, मस्तिष्क की ज्ञान, ध्यान तथा अभिज्ञान शक्ति का अधिक प्रयोग किया है। आध्यात्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि के कारण सम्पूर्ण दोहावली को सात रंगों में रंगा गया है। यह सतरंगी धनुष जन-जन के कल्याणार्थ रामबाण का सन्धान करने की क्षमता रखता है। ये सात रंग सात दृष्टिकोणों को अभिव्यक्त करते हैं। पहला दृष्टिकोण **'उर-धर'** शीर्षक से संगठित किया गया है, इसमें डॉ. शर्मा जी ने अपनी उपदेशात्मक शैली में **'अनुभूति'** दोहावली के भावों को हृदयंगम करने का आग्रह-अनुग्रह किया है। उन्होंने अपने निम्नांकित दोहे में किसी का बुरा न करने का संकल्प उर में धारण करने का उपदेश दिया है-

भले, भलाई कर नहीं, सीख एक पर पाठ।
बुरा न करना और का, मात्र यही सुख-साठ॥

मनुष्य भले ही किसी की भलाई न कर सके किन्तु एक पाठ तो अवश्य ही सीख लेना चाहिए कि सुख की पूँजी (साठ) किसी का बुरा न करने की भावना तथा विचार ही हैं।

यदि बहुत थोड़े समय के लिये भी मानव निष्कलंक, निष्पाप, निर्लिप्त, निर्अपराध, निर्दोष बन जाए तो उसे उस समय अलौकिक, स्वर्गिक सुख-सन्तोष तथा परमानन्द की अनुभूति होने लगती है। कवि 'उर-धर' के एक दोहे में इस विचार तथा अनुभूति को स्वर प्रदान करता हुआ कहता है-

मात्र एक दिन देख ले, करके सब निर्दोष।
निश्चित होगा स्वर्ग का, तब अनुभव सुख तोष॥

'उर-धर' के पाँच दोहों में कवि ने अन्य दृष्टिकोणों का भी संकेत दिया है। दूसरे दृष्टिकोण में **'रूप-अरूप-अनादि'** शीर्षक में रखे गए दोहों में ईश्वर की परम सत्ता व्यक्त की है, जिसका रूप, अरूप, अनादि चित्रित हुआ है। विभु (ईश्वर) भक्ति एवं शक्ति ही जीवन को तृप्ति प्रदान करती है। बिना विभु के व्यक्ति कभी रह नहीं सकता, वह सदैव मानव की वृत्तियों तथा आत्माओं में विलीन रहता है तथा मानव को अपने अव्यक्त रूप से लाभान्वित करता रहता है-

झष बिन-जल,पल रह सके, पर विभु बिन नहिं व्यक्ति।
सो लख! विभुमय वृत्ति से, सम्भव जीवन तृप्ति॥

अर्थात् कोई मछली बिन जल के तो जीवित रह सकती है किन्तु बिना परमात्मा के आत्मा (या व्यक्ति) जीवित या चेतन नहीं रह सकती। दोहों में रूपक के माध्यम से ईश्वर की विद्यमानता भी सिद्ध की है-

होता अन्तः व्यक्ति का, न्यायालय प्रतिमान।
न्यायमूर्ति ईश्वर रहे, जहाँ सदा विदमान॥

दृष्टान्त अलंकार से विभूषित निम्नांकित दोहे में प्रभु के आश्रय में जाने के महत्व को प्रतिपादित किया है-

लेकर आश्रय दूध का, पय हो दूध समान।
प्रभु-आश्रय में जा बने, नर तस सम-भगवान्॥

परमात्मा से आत्मा संयुक्त रहती है, इस भाव की अभिव्यक्ति कवि ने उपमा अलंकार के माध्यम से की है-

फेन हिलोरें बुलबुले, जल से जैस अभिन्न।
आत्मा में कुल विश्व है, तस थित लय अविछिन्न॥

अर्थात् जैसे फेन, बुलबुले जल से अलग नहीं रह सकते, वे भिन्न-अभिन्न रूप

में रहते हैं, उसी प्रकार आत्मा में विश्वात्मा स्वरूप ईश्वर स्थित रहता है।

संस्कृत महाकवि कालिदास जी ने रघुवंश महाकाव्य में ऐसा ही भाव प्रकट किया है-

वागार्थविवसम्प्रक्तौ, वागार्थप्रतिपत्तये।
जगपितरौ वन्दे, पार्वतीपरमेश्वरौ।।

मूर्धन्य भक्त, महाकवि तुलसीदास जी भी ऐसा ही कह चुके हैं-

गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
वन्दों सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न।।

ईश्वर तो प्रेम, श्रद्धा, आस्था तथा विश्वास में बसता है, इन्हीं के कारण उसके दर्शन हो सकते हैं। वह मनुष्य के अन्तःकरण में अवस्थित है। उसे किसी काष्ठ (लकड़ी) या मृदा (मिट्टी) की मूर्ति या पहाड़-पत्थरों अथवा कन्दराओं में ढूँढने की आवश्यकता नहीं है, अन्तरमुखी होकर आप उसके दर्शन कर सकते हैं। कबीरदास जी की भाँति डॉ. शर्मा जी ने भी अपने विचार-भाव व्यक्त करते हुए कहा है-

काष्ठ, मृदा की मूर्ति में, नहिं पाहन में देव।
पर आस्था विश्वास में, बसे, दिपे स्वयमेव।।

x x x x x

क्यों कन्दरा ढूँढे, रहे, गुहा भूमि में खोद।
बन अन्तर-मुख पा सके, अन्तः में विभु-गोद।।

कबीरदास जी की 'साखी' का यह निम्नांकित दोहा बहुत कुछ इसी भाव-चिन्तन को परिलक्षित करता है-

कस्तूरी कुण्डल बसे, मृग ढूँढ़े बन माहि।
ऐसे घट-घट राम हैं, दुनिया देखत नाहि।।

दोहाकृति के तीसरे दृष्टिकोण **'जीवन का चिर रूप'** में मानव जीवन के चिररूप को दर्शाया गया है, जो पूर्णतया परमात्मा (ईश) की चेतना से चेतन है। यह विश्व नाट्यशाला का एक रंगीन रंगमंच है, जिस पर नाटक के सभी किरदार (पात्र) अपना-अपना अभिनय दिखाते हैं तथा पात्रता में डूब कर वैसा ही प्रदर्शन करते हैं जैसा नाटककार चाहता है। पात्र अभिनय में अपने को पूर्णरूप से ढाल लेता है और तथावत् सजीव हो उठता है। काव्य में अर्थान्तरन्यास अलंकार की शोभा हमें कवि के निम्नांकित दोहे से भी प्राप्त होती है-

न दे झलकने सूर को, मुकुर चढ़ा ज्यों रेत।
उर-मल त्यों होने न दें, कभी ईश की चेत।।

अर्थात् जिस प्रकार दर्पण पर रेत या धूल जम जाने के कारण उसमें सूर्य की झलक नहीं दिखाई देती, उसी प्रकार मानव के हृदय पर कुकर्मों, पापों, अपराधों की मैल जम जाने से उसमें अवस्थित ईश्वर की चेतना का भी आभास नहीं हो सकता। मनुष्य को अपने जीवन के विषय में जानकारी होनी चाहिए कि वह कौन है? संसार में क्यों आया है? उसे क्या करना चाहिए? जो इन प्रश्नों के उत्तर प्राप्त कर लेता है, उसी का जीवन सार्थक माना जाता है, वह जीवन की संध्या में भी किसी क्षण भयभीत नहीं होता, क्योंकि वह जान गया कि ईश्वर से प्रीति जोड़ने से ही वह निर्भय हो सकता है-

हो जीवन की साँझ में, पल-पल वह भयभीत।
जिसने आजीवन कभी, विभु में रखी न प्रीत।।

सभी मनुष्यों द्वारा ईश्वर-प्राप्ति का लक्ष्य निर्धारित करके तथा उसे पाकर जीवन में तनाव, भटकाव, अशान्ति तथा प्रतिकूल परिस्थितियों से उत्पन्न दुःख-ग्लानि से बचा जा सकता है। धन-सम्पत्ति में वृद्धि अनेक चिन्ताओं, आशंकाओं तथा भय को जन्म देती है, मनुष्य को यह ज्ञान हो जाना चाहिए कि वह धन-सम्पदा के लिए जीवित नहीं है, धन-सम्पदा उसके जीवन

को चलाने तथा बचाने के लिए होती है। वह निरन्तर आत्मविश्वास तथा पुरुषार्थ से जितना अपना जीवनयापन करता है, उतना ही प्रभु के करुणा-कोष का भागी बन जाता है, उसे दिव्यशक्ति प्राप्त हो जाती है तथा वह किसी अन्य क्षणिक आनन्ददायक वस्तु से उसी प्रकार प्रीति नहीं जोड़ता जैसे राजा की प्रेयसी किसी भिक्षुक से प्रीति नहीं जोड़ती। जब मनुष्य प्रभु के पास है, तो अन्यों की क्या आवश्यकता, जैसे भावों का यह ग्रन्थ भण्डार है।

'अनुभूति' दोहाकृति मनुष्य को सतत् सुकर्म करने की प्रेरणा देती है, इसके **'जीवन सतत् सुकर्म'** शीर्षक में संग्रहीत दोहों में इसी दृष्टिकोण को विकसित किया गया है। किसी मनुष्य के जीवन का मूल्यांकन उसके द्वारा किए गए गुणों व सुकर्मों की कसौटी से ही आँका जा सकता है, जैसे लोहे की तलवार का मूल्य लोहाधातु की कठोरता, उसकी तेज धार अर्थात् उसकी मारक क्षमता से ही होती है। दोहा दृष्टव्य है-

जस असि मोल बखानते, धातु कड़ापन धार।
तस नर महिमा आँकते, उसके सद्‌ आचार॥

भाग्यवाद को त्याग कर कवि कर्मवाद की स्थापना पर बल देता है। सतत् सुकर्म ही मनुष्य का कल्याण कर सकते हैं, जब मनुष्य आत्मा, परमात्मा के तत्वों के भेद को भलि-भाँति जान लेता है, तो प्रभु से मिलने की दूरी एक पग ही रह जाती है। यह भेद भी सतत् सुकर्मों के कारण ही समझा जा सकता है। पाँचवें दृष्टिकोण **''पग पग को पथ-ज्योति''** में दोहों के जो दीप प्रज्ज्वलित हुए हैं, वे पग-पग पर ज्योति प्रदान करते हैं, जिससे जीवन यात्रा अत्यन्त सरल और सुगम हो जाती है। जिस पल मनुष्य को अपने अज्ञान का संज्ञान हो जाता है, तो समझ लीजिए कि वह मति-मन्दिर पर चढ़ने हेतु कई सीढ़ियाँ प्राप्त कर चुका है। उत्प्रेक्षा अलंकार के माध्यम से कवि ने इस आशय को समझाया है-

जिस पल निज अज्ञान का, हो नर को संज्ञान।
चढ़ मति-मन्दिर का गया, मानो वह सोपान॥

आत्म तत्व की ऊर्जा से मानव का विवेक जागृत होता है और वह प्रत्येक पग जग-हित में ही कार्य करने के लिए अग्रसर होता है। मनुष्य को अपनी अभिलाषाएँ भी सीमित करनी चाहिए। सद्‌गुणों में अधिकाधिक वृद्धि करना आध्यात्मिक तथा सांसारिक जगत् में सफलता का सूत्र बन जाता है, जिन्होंने ऐसा आचरण किया है, उनके हृदय में शान्ति स्थायीरूप से निवास करने लगती है तथा उसे सन्तोष, आनन्द तथा ऋद्धि-सिद्धि सहज में सुलभ हो जाती है, ऐसा ही कुछ डॉ. शर्मा जी ने अपने निम्नांकित प्रज्ज्वलित दीपों रूपी दोहों में कहा है-

जब सुगुणों को ज्योति दें, कर सीमित अभिलास।
तब उर भरते शान्ति से, तोष ऋद्धि उल्लास॥

x x x x x

कर्मों के परिणाम में, जिनकी सूझ प्रवीण।
बच प्रपञ्च से, वे बनें, आत्म-पथिक पारीण॥

कविवर डा. शर्मा जी ने इस दृष्टिकोण में राष्ट्र के प्रति भी अपना कर्त्तव्य पालन करने, स्वराज्य एवं सुशासन प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की है-

रहे सुशासन राष्ट्र में, सुखता अडिग स्वराज्य।
जनगण रखें मनुष्यता, जब आपस अविभाज्य॥

छटे दृष्टिकोण **''सजग-दृष्टि सुख-स्रोत''** में कवि ने उन दोहों को सम्मिलित किया है जो सजग दृष्टि सदा बनाए रखने के लिए प्रेरित करते हैं तथा इसी प्रेरणा से ही सुख-स्रोत फूटते हैं, आनन्द के झरने झरते हैं। यदि समाज में विषमता व्याप्त है, तो विद्रोह, उपद्रव, दमन आदि का जन्म स्वाभाविक है, क्योंकि विषमता की कोख से ही इनका जन्म होता है। यदि समता, समानता लोगों के मानस में भरी जाती हैं, तो विषमता स्वत: मिटती जाती है तथा लोगों में परस्पर

स्नेह, ममता, करुणा, कृपा का प्रादुर्भाव होने लगता है और सुख-सम्पन्नता स्वयम् उसके पास चली आती है। सातवे और अन्तिम दृष्टिकोण **''जग-गति में अनुभूत''** शीर्षक में कवि ने जिन दोहों को स्थान दिया है, वे दोहाकृति का एक प्रकार से सार तत्व हैं। कवि ज्ञान तथा कर्म को जीवात्मा रूपी पक्षी के दो पंख मानता है तथा पक्षी जैसे दोनों पंखों से आकाश में अपनी इच्छाओं की उड़ान भरता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी अपने ज्ञान तथा कर्म के दोनों पंखों से संसाररूपी आकाश में स्वेच्छापूर्वक विचरण कर सकता है तथा वह सभी मनोरथ पूर्ण कर लेता है। कवि का एक दोहा उदाहरण स्वरूप द्रष्टव्य है-

जस नभ में दोऊ पाँख से, खग भर सके उड़ान।
ज्ञान-कर्म समवेत से, तसहि सुलभ सन्धान॥

इस अन्तिम दृष्टिकोण शीर्षक के दोहों में कवि, ज्ञान-कर्म के महाप्रयोजन में अपनी क्षमता का प्रयोग करने का उपदेश देता है। शक्ति-सामर्थ्य तथा ज्ञान के अपव्यय पर भी रोक लगानी आवश्यक है, ऐसा होने पर मनुष्य अनुपम रूप धारण कर सकता है।

मैं यहाँ दोहाकृति की रचना-शैली तथा अभिव्यक्ति की क्षमता पर भी विचार करना उचित समझता हूँ। दोहों में अनेक वर्ण्य-विषय हैं, उन्हें पाठकों के हृदय तक कवि ने कैसे पहुँचाया है? कविता चाहे स्वान्त: सुखाय लिखी जाए किन्तु कवि का परिश्रम तभी सार्थक होता है जबकि उसकी कविता का कोई रसास्वादन करे, जैसा रस कवि के हृदय में होता है, वैसा ही पाठकों के हृदय में अपेक्षित है। यहाँ कवि अपने दोहों के माध्यम से शान्त रस की अनुभूति कराकर पाठकों को आनन्दित भी करता है। कवि का कलापक्ष हिन्दी के विभिन्न अलंकारों से सुसज्जित है जिनमें प्रयुक्त उपमा, अनुप्रास, विशेषकर अन्त्यानुसार, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, यमक, श्लेष आदि प्रचलित अलंकारों तथा काव्य-गुणों की छटा पाई जाती है। मैंने यथास्थान अपने इस अध्ययन में इनका उल्लेख किया है। काव्य-गुणों से दोहाकृति विभूषित है, अपेक्षाकृत माधुर्य गुण अधिक पाया जाता है। भावाभिव्यक्ति, पाठकों में पर्याप्त समझ चाहती है। कहीं-कहीं अप्रचलित शब्दों के प्रयोग खटकते हैं, जो रसानुभूति में बाधक है। शब्द की अभिधा शक्ति का अधिक सहारा लिया गया है। दोहों की रचना शैली से वास्तविक भावों तथा विचारों के समझने में कठिनाई अवश्य अनुभव होती है। अर्थ समझने के लिए दोहों में अन्वय करने में बुद्धि चकरा जाती है। मैं तो हैरान हूँ, शायद अन्य पाठक भी हैरानी अनुभव करेंगे कि कविवर डॉ. बुद्धि प्रकाश शर्मा ने इतनी विपुल संख्या में दोहा जैसे कठिन मात्रिक छन्द में दोहाकृति कैसे रची है! अवश्य ही किसी अलौकिक शक्ति का उन्हें वरदान प्राप्त है, उनकी काव्य प्रतिभा अद्भुत है। मैं उनकी लेखनी को प्रणाम करता हूँ।

अन्त में मुझे यह कहने में किञ्चित संकोच नहीं है कि यह दोहावली ज्ञान-पिपासुओं को **'गंगा की धार'** है; धर्म-प्रेमियों के लिए यह पावन **'धर्म-ग्रन्थ'** है; समाज सुधारकों के लिए **'सुधारक सूत्र'** है; साहित्य अनुरागियों तथा सहृदय पाठकों के लिए यह **'शान्त रस की खान'** है; नीति-निर्धारकों के लिए तथा नैतिकता की हामी भरने वालों के लिए यह **'नीतिशास्त्र'** है; अज्ञान के अन्धकार में भटकने वालों के लिए यह **'प्रकाश-स्तम्भ'** है; भाषा-शास्त्रियों तथा व्याकरण के पण्डितों के लिए यह एक **'चुनौती'** है; धन-सम्पत्ति के लालचियों के लिए यह एक नया **'अर्थशास्त्र'** है। मैं ऐसी विचित्र दोहा-रचना-शिल्प के लिए कवि को साधुवाद देता हूँ। कवि ने अपने इस काव्य में प्रयुक्त कठिन एवं अप्रचलित विस्तृत शब्दों के अर्थ पाद-टिप्पणियों में देकर पाठकों का भला किया है। कवि से भविष्य में और भी आशाएँ हैं। **'चरैवेति-चरैवेति'** की कामना के साथ प्रस्तुत है यह अध्ययन।

आत्म-भाव-

महात्मा गौतम बुद्ध को घोर साधना के उपरान्त हुए बोध में एक सत्य यह भी था कि संसार में दुख ही दुख हैं। लेकिन मैंने अपनी जीवन यात्रा में संसार को सूक्ष्मता एवम् गम्भीरता से देखा है और मुझे अपने तथा पराये प्रत्येक पग से अनुभव और अनुभूति हुई है कि प्रत्येक को उन दुखों में से दैहिक दुख तो अधिकांशत: उसकी दैनिक आहार-विहार के प्रति असावधानता एवम् अनियमितता का परिणाम होते हैं। शेष सांसारिक और दैविक दुख उसके स्वयम् के कर्मों के परिणाम होते हैं चाहे वे कर्म उसके पूर्व के मानव-जन्मों से सम्बन्धित हों अथवा इस जन्म से। असंख्य नवीन नवीन व्यक्तिगत एवम् सामाजिक परिस्थितियाँ होती हैं जो प्रत्येक समय व्यक्ति की मनोदशा को प्रभावित करती हैं, जिनकी प्रतिक्रिया और प्रेरण के फलस्वरूप व्यक्ति सुलभ्य लाभ की दृष्टि से कर्म करने लगता है; सूझ, समझ, बुद्धि, विवेक, दूरदर्शिता से नहीं। यही कर्म व्यक्ति के लिए सुख देते हुए उसे प्रतीत होते हैं, लेकिन यह कर्म उसमें सतत् मानसिक उद्विग्नता, भय अवश्य छोड़ जाते हैं तथा भविष्य में उसके लिए एकाएक ही दुख के पहाड़ भी सिद्ध होते हैं; साथ ही यही कर्म अन्यों हेतु भारी पीड़ा और जघन्यताएँ बनते हैं। एक दूसरे के यही कर्म एक दूसरे के लिए दुख का संसार रचते रहते हैं। अत: मनुष्य को जानना आवश्यक है कि उसके नैसर्गिक और अर्जित वे कौन से मानसिक तत्त्व हैं जो उसके कर्मों को वास्तविक आनन्ददायी मानवीय जीवन से हटा देते हैं। ऐसे समस्त मानसिक अस्तित्वों के प्रति, जो सांसारिक जीवन को दुख के रूप में परिणत कर देते हैं, की ओर इंगित करने का एक लघुक प्रयास है प्रस्तुत कृति- 'अनुभूति'।

मानवीय अनुभूति का यह दृढ़ विश्वास रहा है कि इन्द्रिय अनुभूत अथवा विचार अनुभूत सम्पूर्ण, विभिन्न रूपों में ईश्वरीय प्रकटीकरण ही है; अत: जगत् में रहते हुए मनुष्य, जीव, वनस्पति अथवा समस्त रचनाओं एवम् सृष्टि के अंगों के प्रति सर्वहितकारी व्यवहारों का मानव-मन में रोपना परम आवश्यक है। इसी दृष्टि को मानव मन में स्थापित करने, जिससे कि इस सृष्टि का सौन्दर्य अक्षुण रह सके और प्रत्येक मानस सदैव प्रसन्नता और सन्तुष्टि की स्थिति में रहते हुए जीवन जिए, का एक मनोहर प्रयास भी है प्रस्तुत कृति-'अनुभूति'।

प्रकृति में समस्त दृष्टिगोचर एक दूसरे का उपकार और सहयोग करता हुआ स्पष्ट प्रतीत होता है, लेकिन मनुष्य दूसरे सभी के हितों का हनन करता हुआ प्रतीत होता है। अत: युगों युगों ऐसे मनुष्यों को जागृति प्रदान करने के लिए, जो न तो अन्यों को प्रसन्न रहने देते हैं और न फलत: स्वयम् भी प्रसन्न रह पाते हैं, एक संज्ञान-स्रोत है प्रस्तुत कृति- 'अनुभूति'।

कर्तव्य, मान-सम्मान, मर्यादाएँ और म.नवधर्म के प्राय:पूर्णत: समाप्त हो जाने के इस समय में, मनुष्य की मृत-प्राय: हो चुकी सजीवता को पुन: पोषण प्रदान कर पावन बनाना परमावश्यक है अन्यथा पतन के जिस गर्त में मनुष्य निरन्तर समा रहा है उससे स्पष्ट परिलक्षित होता है कि मानवीय संस्कृति सम्पूर्णत: समाप्त होने की स्थिति की ओर है और वह दिन सुदूर नहीं है जब सांस्कृतिक उत्थिति समाप्त होकर जंगल-युग का अन्धकार प्रत्येक मन में आ विराजेगा और तब मानवजाति एक दूसरे के संहार में रत हो जायेगी तथा पुन: आदि युग का उद्भव हो जायेगा। अत: मानवीयता को मानव मस्तिष्क में प्रतिष्ठित रखने के लिये सभी जागृत आत्माओं को प्रयत्नरत होना होगा।

इस दिशा में भोर प्रदान करने हेतु अवश्य ही एक किरण प्रतीत होगी प्रस्तुत कृति-'अनुभूति'।

आज तक मनीषियों का विचार रहा है कि सुख के बाद दुख और दुख के बाद सुख आता रहता है तथा दो दुखों के बीच सुख अल्पकालीन होता है। मेरा मानना ठीक इसके विपरीत अनुभूति वाला है। यह जगत् ईश्वर द्वारा मात्र सुख, आनन्द प्राप्ति के लिए रचा गया है। ईश्वर ने 'एकोऽहम् बहुस्याम' की कल्पना स्वयम् स्वयम् से आनन्दित होने के लिये की अर्थात समस्त सृष्टि के रूप में ईश्वर ही विद्यमान हुआ और सृष्टि के समस्त अंगों को आनन्दित पाकर स्वयम् आनन्दित होना ईश्वर का मनतव्य था। अत: प्रमाणित है कि ईश्वर ने व्यक्ति में, कि वह कैसे आनन्दित रह सकता है के लिए, 'आत्मा की वाणी', की एक सहज अन्त: रचना की; किन्तु यह मनुष्य है कि जिसने सुख और आनन्द सम्बन्धी कर्म न करके दुखद कर्मों में ही सदैव सुख आनन्द को पाने का प्रयास किया और सदैव अनैतिक अन्यायी कर्मों में लगा रहा, जिससे उसने स्वयम् भी दुख प्राप्त किया और शेष सभी अन्यों को भी हानि और मर्मान्तक पीड़ा ही दी। वास्तव में मानव जीवन सुख शान्ति और मात्र आनन्द अनुभूति के लिए ही ईश्वर प्रदत्त है। अत: मानव-जाति एवम् स्वयम् मनुष्य के सभी प्रयास स्वयम् को एवम् सर्वभूतों को प्रसन्नता देने वाले होने चाहिए। विश्वास है कि जीवन को शान्ति व सुखानन्द की ओर ले जाने वाला एक राजमार्ग न सही, किन्तु एक गली अवश्य ही प्रतीत होगी प्रस्तुत कृति-'अनुभूति'।

'अनुभूति' रूप, अरूप, अनादि तथा जीवन का चिर-रूप जिसे हम 'मैं' कहते हैं, जो आत्मिक स्वरूप है, चेतन परमात्मा है, की वास्तविक अनुभूति की हृदयग्राही सम्वेदनशीलता भी है। अत: प्रत्येक में, 'मैं 'मैं' हूँ' की दृष्टि की सृष्टि कर सकने की समर्थ अनभूति भी है। जिसे मैं अपनी संज्ञा प्राप्ति के उपरान्त सदैव करता रहा हूँ।

मैं जिनका वंशज हूँ उन परम-पूज्य पूर्वजों; उदारता-श्रेष्ठ, कर्मठ वन्दनीय पितामह तथा सम्पूर्ण-दृष्टि से मानव-मूर्ति पूज्य माता पिता से प्राप्त उत्कृष्ट संस्कारों और भगवान् श्री सत्य साई बाबा के निश्चय द्वारा मेरी अनुभूति में आये तथ्यों की दोहा रूप में यह शब्द रचना स्वान्त: सुखाय हुई है। मैंने अपनी पूर्व-पुस्तकों में भी नि:संकोच स्वीकार किया है कि दोहा रचना के छान्दस नियमों, मात्रा, यति, गति से मैं पूर्णरूपेण अनभिज्ञ ही हूँ। इसीलिए पढ़ने के उपरान्त पाठकगण मेरी लेखनी को विस्मयकारी अद्भुत दोहा-शिल्प भी कहते हैं। वास्तव में मेरे दोहा लेखन के मूल में कबीरदास जी का प्राथमिक पाठशाला से मेरे मस्तिष्क में समाया हुआ एक ही दोहा है-

बड़ा भया तो क्या भया, जैसे पेड़ खजूर।
पंछी को छाया नहीं, फल लागें अति दूर।।

समस्त रचित दोहों में उक्त दोहे की रचना का कितना प्रभाव है, कह नहीं सकता; परन्तु इतना वास्वतिक सत्य है कि भगवान् श्री सत्य साई बाबा मेरे मस्तिष्क में, मेरे सम्पूर्ण शरीर के रोम रोम में स्वयम् उपस्थित हुए हैं और उन्होंने ही यह काव्य-रचना की है, अन्यथा आज भी मैं उन अगणित शब्दों को, लय-बद्ध रचना को नहीं जानता, जिनका सम्यक् उपयोग प्रस्तुत साहित्य में हुआ है। सच कहूँ तो मेरी शैक्षिक पृष्ठभूमि कभी भी साहित्यिक नहीं रही और यह भी स्पष्ट है कि यह साहित्य सृजन भगवान् साई जी की मुझ पर न तो अनुकम्पा है और न ही मुझे उनके द्वारा प्रेरित किए गये शब्द, वरन् स्वयम् श्री सत्य साई भगवान् ने ही मेरे शारीरिक उपकरणों का उपयोग

करके यह सम्पूर्ण प्रस्तुति की है। इसमें इतना अवश्य है कि मेरे जीवनकाल में ही जो मेरे चहुँ ओर जीवन-मूल्यों की अवनति रसातल को प्राप्त हो गयी है, के सन्दर्भ में सुधि में बस गयी मेरी छटपटाहट को ही भगवान् बाबा ने शब्द दिये हैं। जिसमें मानव एवम् सम्पूर्ण सृष्टि का सृजन-सत्य क्या है की अनुभूति करने की ओर ले जाकर सुकर्मों की जागृति का सम्प्रेषण भगवान् बाबा साई द्वारा किया गया है। प्रस्तुत कृति के मुख्य-पृष्ठ पर अंकित दोहे के शब्द इसी चेतना का मनुष्य में समावेश करने का एक अंश हैं-

जब निज के सम्पूर्ण के, सत् की हो अनुभूति।
सजल सुकर्मों की झरे, तब उर स्वतः विभूति।।

भगवान् सत्य साई जी द्वारा मुझे दी गई शब्दों की तृतीय प्रस्तुति 'कर्म-बोध' के प्रति अपनी भावानुभूति को शब्द देने वाले सभी विज्ञ-सज्जनों का मैं भावाभिभूत हो हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ। इन सभी शुभेच्छुओं को स्थान न दे पाने के कारण क्षमा प्रार्थी हूँ। कतिपय भाव-प्रसून प्रस्तत हैं-

—'कर्म-बोध' शब्द-शास्त्र सम्मत अपरिमित शब्द-ज्ञान का मुक्त प्रयोग करने वाला, लोक-मूल्यों का प्रेरक, श्रेष्ठ काव्य है। इसके अर्थ-बोध में कठिनता प्रतीत है, जो दोष की श्रेणी में नहीं आती; क्योंकि उस काव्य अथवा वाण का क्या लाभ जो दूसरे के सिर को न झन्ना दे। इससे इस काव्य की उच्चता का आकलन ही हुआ है। इस काव्य में रस-संयोजन, भाव-सबलता, भाव-व्यञ्जकता, अलंकार-योजना, विविध विषयों अनुसार रस-अभिव्यञ्जन तथा मुक्तक काव्य की उत्तमता दृष्टिगोचर है। दोहा छन्द के नियमों का पूर्णतः परिपाक हुआ है। वस्तुतः यह एक कर्म-बोधक प्रशस्य काव्य रचना है, इसमें सन्देह नहीं।

— वैद्य रमेश चन्द्र शास्त्री, व्याकरण शास्त्री, साहित्याचार्य, नई बस्ती, बिजनौर

— **वही श्रेष्ठ मर्याद है, कभी न दे जो मंथ (क्षोभ)।**
कर्म-बोध ही दे सके, पर अस जीवन-पंथ।।

—विनोद कुमार शर्मा, कानेनगर, एनटोक हिल, मुम्बई-३७

प्रस्तुत पुस्तक पर प्रख्यात साहित्यकार एवम् कवि डॉ. ओम दत्त आर्य जी ने अपना आशीर्वाद **ज्ञान गगरी है यह 'अनुभूति'** के रूप में दिया है। मैं उनका आत्मा से आभार व्यक्त करता हूँ। पुस्तक संयोजन में श्री मंगू लाल भारद्वाज जी के विशेष सहयोग व सुझावों हेतु मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

भगवान् श्री सत्य साई बाबा ने ही परोक्ष रूप में पुस्तक **'अनुभूति'** की रचना की है। बाबा को कोटि-कोटि आभार के साथ मेरा उनके चरणों में आत्मा से चिर-नमन। साथ ही टंकण एवम् साज-सज्जा हेतु श्री महेश चन्द्र शर्मा; मुद्रक एवम् बुक-बाइंडर महोदयों के साथ समस्त शुभेच्छु सज्जनों को आभार सहित हार्दिक धन्यवाद। प्रबुद्ध पाठियों से त्रुटियों की जानकारी देने का विनम्र निवेदन।

(~~साई प्रभु की निर्वाण तिथि २४.०४.२०११, की स्मृति में~~)

~~२४.०४.२०१४~~

डॉ. बुद्धि प्रकाश शर्मा

दृष्टिकोण-अनुक्रम
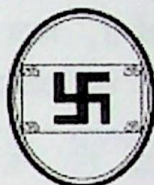
सर्वाधिकार : रचयिता
संस्करण : प्रथम 24.04.2014
साज-सज्जा : श्री महेश चन्द्र शर्मा
मूल्य : मात्र रु० एक सौ अस्सी
आवरण : कलैन्डर, एम.एल. सर्राफ से साभार
मुद्रक : यश प्रिंटिंग प्रेस, बुखारा चुंगी, बिजनौर #9027166578

(कृति के प्रत्येक दोहे की रचना के लिये स्वयम् रचयिता उत्तरदायी हैं।)

ANUBHOOTI (DOHA KRITI)

BY DR. BUDDHI PRAKASH SHARMA
315, NAI-BASTI, BIJNOR, U.P.

उर-धर!

नहिं कर ऐसा, वेदना, जो अन्तः की रोय।
तेरी मेरी ही नहीं, भले किसी की होय।।

भले भलाई कर नहीं, सीख एक पर पाठ।
बुरा न करना और का, मात्र यही सुख-साठ[१]।।

मात्र एक ही प्रार्थना, मात्र एक ही सीख।
और न सुख आनन्द का, जीवन सहज सरीख।।

मात्र एक दिन देख ले, करके सब निर्दोष।
निश्चित होगा स्वर्ग का, तब अनुभव सुख तोष।।

सुयश रहे, काया नहीं, जग-थिर, पा सम्मान।
सो रख निज क्रियमाण[२] में, रे! शुभ कर्म रुझान।।

१.साठ-पूँजी, धन; २. क्रियमाण-जो किया जा रहा है

रूप अरूप अनादि

की करुणा, अनुभूतियाँ, दीं, प्रभु साईराम।
चरण-कञ्ज[1] में आपके, नत मम् कोटि प्रणाम॥००१॥

सञ्चय सुख संसाधनों, हेतु मिली नहिं देह।
जग-जीवन के दृश्य से, चिर सत् खोज अछेह[2]॥००२॥

आस्थ, श्रद्ध विश्वास हैं, भक्ति प्रेम अभिव्यक्त[3]।
अतः श्रद्ध उसमें जगा, जो है सर्व-सशक्त॥००३॥

मानव बन, अपनाव[4] पा, वह जो सर्व-समर्थ।
नहिं सनाथ का हो सके, सम्भव कभी अनर्थ॥००४॥

घटक घटक में सृष्टि के, विधिक व्यवस्था ज्ञाप्त[5]।
साक्ष्य कि किसी समर्थ का, सञ्चालन सम्व्याप्त॥००५॥

'है' में से कोई उदय, हो सकता अस्तित्व।
होता सिद्ध कि सृष्टि का, आदि सत्व ईशित्व[6]॥००६॥

झष[7] बिन-जल, पल रह सके, पर विभु-बिन नहिं व्यक्ति।
सो लख! विभुमय वृत्ति से, सम्भव जीवन तृप्ति॥००७॥

रखे सचेतन देह को, इक छाया रह साथ।
समझें! यही अदृश्य है, आत्मा जीवी[8] नाथ[9]॥००८॥

---

१. कञ्ज-कमल; २. अछेह-निरन्तर; ३. अभिव्यक्त-कार्यरूप में प्राप्त;
४. अपनाव-आत्मीयता; ५. ज्ञाप्त-जतायी हुई; ६. ईशित्व-ईश्वरत्व;
७. झष-मछली; ८. जीवी-जीव; ९. नाथ-प्रभु, भगवान्

जगे आत्म-अनुभूति से, उत्कण्ठा, वह ईश।
निराकार चिन्तन बने, तब साकार सुतीश[१]।b००९॥

लहरें जल, मृद में घड़ा, जस कञ्चन में टूम।
तस स्वजन्य जग को करे, लय विभु-रूप विधूम[२]।b०१०॥

अंश अंश में सृष्टि के, ब्रह्म, ज्योति बन लीन।
अपरम्पार अनन्त है, अतः वही स्वाधीन।b०११॥

ब्रह्म सर्व-ब्रह्माण्ड हैं, अलख कोउ इक दक्ष[३]।
दे दर्शन उस आत्म का, लख[४]!चिन्तन की अक्ष।b०१२॥

जब जीवन बन[५] ले कभी, अन्तः दिव्य उभार।
ज्ञान-नेत्र तब देखता, सब में एक अकार[६]।b०१३॥

हृदयगम्य परमात्म है, नहिं वह इन्द्रियगम्य।
भाव रचें उस-सत्त्व[७] को, तब हो वह उर-रम्य।b०१४॥

ब्रह्म जगत् प्रत्यक्ष है, विविध अनन्त सशक्त।
क्यों कि स्वयम् सामर्थ्य से, है वह व्यक्त, अव्यक्त।b०१५॥

सर्वोत्तम-कृति में रखे, सृजक स्वचित के तथ्य[८]।
सो ईश्वर का सत्य ही, नर का अन्तः सत्य।b०१६॥

है अन्तर उत्कृष्टता, विभु का मानव रूप।
सो बन मन वच कर्म को, सर्व हितों अनुरूप।b०१७॥

१-सुतीश-उत्पन्न या प्रत्यक्ष ईश्वर=सुत+ईश; २. विधूम-अग्नि; ३. दक्ष-शक्ति; ४. लख-समझ; ५. जीवन बन-व्यवहार बनकर; ६. अकार-आकार; ७. सत्त्व-अस्तित्व; ८. तथ्य-सार

होती एक जगस्थ है, प्रकट पुलक[1] आभास।
यही पुलक तो ईश है, नहीं मात्र विश्वास।।०१८।।

तात्त्विक नहिं है वस्तुतः, जड़ चेतन का भेद।
यही दृष्टि दें पूर्ण-की, गहन-चिन्तना, वेद।।०१९।।

मात्र दृष्टि का भेद है, चेतन रूप-जड़त्व।
पूर्ण प्रकट है अन्यथा, मूल एक ही तत्त्व।।०२०।।

देखे आत्मिक चेतना, जीव-मात्र में एक।
प्रकटे तब उस बोध में, कैसे एक अनेक।।०२१।।

होता अन्तः व्यक्ति का, न्यायालय प्रतिमान।
न्यायमूर्ति ईश्वर रहें, जहाँ सदा विदमान।।०२२।।

जल-जीवन, सो मीन का, जनम-सिद्ध अधिकार।
लख गह! आत्मा ईश का, नाता उसी प्रकार।।०२३।।

विभु सद्भावों वृत्तियों, का अनादि आलोक।
इसी हेतु नर में भरे, शुचि श्रद्धा शम श्लोक[2]।।०२४।।

ईश्वर है सद-वृत्तियों, का मंगलमय पुञ्ज।
भव-बन्धन दुष्वृत्तियों, का सो नारक[3]कुञ्ज[4]।।०२५।।

कर्म, प्रेम की प्रेरणा, से करना निष्काम।
किन्तु स्वार्थ-बिन प्रेम ही, ईश बिम्ब अभिराम[5]।।०२६।।

१. पुलक-फड़कन; २. श्लोक-कीर्ति; ३. नारक-नरक सम्बन्धी; ४.कुञ्ज-गुफा; ५. अभिराम-सुन्दर, मोहक

भय-अभाव, अन्त:अमल, प्रिय-वच सात्त्विक दान।
क्षमा विभूषित भावना, नर में विभु पहिचान।।०२७।।

अद्‌भुतता विस्मय रखे, जग पदार्थ प्रत्येक।
इंगित करे कि भिन्नता, बन प्रकटा, वह एक।।०२८।।

फेन[१] हिलोरें बुलबुले, जल से जैस अभिन्न।
आत्मा में कुल[२] विश्व है, तस थित लय अविछिन्न।।०२९।।

घट बाहर भीतर रहे, सर्व-व्याप्त जस व्योम।
तस विभु से इस सृष्टि में, ओत-प्रोत सब रोम।।०३०।।

रस में जैस प्रतीत हो, व्याप्त हुआ कुछ तत्त्व।
विभु में जग, जग में रमा, लख! तस ही विभु सत्त्व।।०३१।।

सहज!, सत्य का चीन्हना, जो सदैव अनुभूत।
मात्र चित्त-अँखि[३] दृश्य में, रखनी पड़े अधूत[४]।।०३२।।

पुण्य न पर-उपकार सा, परपकार सा पाप।
सत्य नहीं निज ज्ञान सा, थल नहिं जहाँ न आप।।०३३।।

इसकी उसकी चेतना, मात्र आत्म-परमात्म।
मान, परस्पर प्रेम से, अत: जुटायें स्वात्म।।०३४।।

जग विभु के सौन्दर्य का, दिग्दर्शन प्रत्यक्ष।
क्योंकि ईश चिर सुष्ठुता[५], जग उस-बिम्ब विलक्ष[६]।।०३५।।

---

१. फेन-झाग; २. कुल-सम्पूर्ण; ३ अँखि-आँख; ४. अधूत-स्थिर;
५. सुष्ठुता-सुन्दरता; ६. विलक्ष-असाधारण

बाहर, दर्पण में वही, एक रूप विदमान।
तस प्राणी प्रत्येक में, लख विभु शोभामान[१]॥०३६॥

रहे बीज के साथ में, ज्यों तरुवर फल बन्ध।
जड़ चेतन त्यों सृष्टि में, प्रभु से रखें निबन्ध[२]॥०३७॥

प्रेमी प्रिय को चित्र में, देखे ज्यों प्रत्यक्ष।
त्यों अमूर्त को मूर्त में, निरखे साधक अक्ष[३]॥०३८॥

जाल प्रकट हो लूत[४] से, स्वयम् जलधि से फेन।
तस प्रकटे परमेश ही, बन सम्पूर्ण, स्वदेन॥०३९॥

आसुर घृणा, मनुष्यता, क्षमा सहनता त्याग।
लेकिन प्रेम स्वभाव है, ईश्वर, रख अनुराग[५]॥०४०॥

जल मछली का सत्त्व है, तस नर का भगवान्।
बाहर भीतर व्याप्ति से, हैं द्वा[६] जीवन प्रान॥०४१॥

सोच भाव जिन कर्म में, निहित सर्व-कल्यान।
मात्र सुजीवन के वही, प्रकट रूप भगवान्॥०४२॥

मुखड़े की रचना नहीं, देख! खिली मुस्कान।
देख! डूब मुस्कान में, मुस्काता भगवान्॥०४३॥

काई में तालाब की, अलख रहें जस मीन।
तस उर-पर्त विकार की, हट[७], लख अलखासीन[८]॥०४४॥

---

१. शोभामान-विराजमान; २. निबन्ध-बन्धन; ३. अक्ष-आँख;
४. लूत-मकड़ी; ५. अनुराग-आसक्ति; ६. द्वा-दोनों के;
७. हट-हटाकर; ८. अलखासीन-अलख+आसीन=भगवान् बैठे हैं

बिन समझे मन में धरें, सत्य असत्य विभेद।
जान न पा सकते कभी, विभु क्या, कहते वेद।१०४५॥

जब पर से हो स्वयम् का, युक्त भाव-एकात्म।
हो दृग-लक्षित सर्व ही, तब विराट-परमात्म।१०४६॥

निज शाश्वत अस्तित्व का, पा लेता जो भान।
परम तत्त्व सूझे उसे, तब, क्या सत्-सन्धान[१]।१०४७॥

भली-भाँति यदि हो गयी, ईश्वर की पहिचान।
पूर्ण-सृष्टि के ज्ञेय[२] का, स्वत: पाव वह ज्ञान।१०४८॥

दृष्टि-सूक्ष्म-गम्भीर से, लें यदि जग को जान।
परम तत्त्व, निज रूप का, स्वत: जगे[३] संज्ञान।१०४९॥

जीवन, जीवन धार में, सत् थित है प्रत्येक।
दृष्टा तो बन, दीठ[४] दे, सत् की सत्य विवेक।१०५०॥

तन मन के पीछे खड़ा, लख! दृष्टा चैतन्य।
उससे बँध[५] जीवन-तरी[६], पावे सुधा अनन्य।१०५१॥

लेश न दुर्गुण दोष हों, ईश्वर वह अस्तित्व।
तब लय हो, गुण पुञ्ज बन, विभु में तव व्यक्तित्व।१०५२॥

समझ लिया यदि स्वयम् का, निर्विकार नित-रूप।
दर्शित होगा पूर्ण में, तब तव रमा स्वरूप।१०५३॥

---

१. सन्धान-लक्ष्य; २. ज्ञेय-जानने योग्य; ३. जगे-जगाता है;
४. दीठ-दृष्टि, आँख; ५. बँध-बाँध; ६ तरी-नाव

उठी लहर या बुलबुला, कब सागर से भिन्न।
जग-उपेक्ष कर आत्म[1]का, शक्य न तस, तन छिन्न[2]॥०७५४॥

भिन्न घरों में भिन्नता, रखे न सूर्य प्रकास।
तस सब जीवों में करे, आत्मा एकहि वास॥०७५५॥

ईश कृपा सत्-ज्ञान ही, दे सुलक्ष्य पहिचान।
नतु मिथु-जग साँचा लगे, सत् में हो मिथु भान॥०७५६॥

विद्यमान सब रूप में, भले अन्त-का[3] लेश।
सो नर कर्म विचारणा, देखे सब परमेश॥०७५७॥

रूप मुकुर कहता वही, जो उस सम्मुख जाय।
तस मन-सम्मुख, भाव से, प्रभु वह बन, मन आय॥०७५८॥

प्रेम भक्तिमय वृत्तियाँ, बनते[4] बनते भाव।
प्रकटें प्रभु सम-भाव से, तस धर रूप स्वभाव॥०७५९॥

ईश्वर भीतर भी बसे, फिर क्यों बाहर ढूँढ़।
ज्ञान-चक्षु से, शान्त हो, सो लख भीतर मूढ़॥०७६०॥

भ्रम भय नहिं विभु-निष्ठ में, टिकता, रहे सचेष्ठ।
सर्व अलौकिक सम्पदा, श्रद्धा सी नहिं श्रेष्ठ॥०७६१॥

श्रद्धा, ईश समीप की, बढ़ती नित अनुभूति।
जो कि प्राण सामर्थ्य को, दे नव-चेत विभूति॥०७६२॥

---

१. आत्म-आत्मा; २. छिन्न-काटकर अलग किया हुआ;
३. अन्त- का-अत्यन्त; ४. बनते-बनते ही

विभु निष्पक्ष कठोर है, डरे, रखे विश्वास।
वह निज कर्मों में रखे, निर्भय सत्य उजास।।१०६३।।

सब विभु-रूपी सिन्धु में, लहर बुलबुले बूँद।
इस सत् से अनभिज्ञ ही, बोते जग में दूँद[१]।।१०६४।।

भजन प्रार्थना चित्त से, नहीं जीभ से होय।
जिससे विभुमय हो सके, प्राणवान सब कोय।।१०६५।।

सत्ता परम परेश की, जिसको हो अनुभूति।
असत् स्वपन से भी हटे[२], सत् को मिले विभूति।।१०६६।।

अन के सुख रिस[३] हर्ष से, न हो व्यथा भय खेद।
अस उर बस विभु दें मिटा, जीव जीव का भेद।।१०६७।।

जलधियान भटके नहीं, रख चुम्बक-सुइ पास।
तस मन भव-जल में थमे, विभु से बना समास[४]।।१०६८।।

लेकर आश्रय दूध का, पय[५] हो दूध समान।
प्रभु आश्रय में जा बने, नर तस सम-भगवान्।।१०६९।।

पारस के संसर्ग से, बने कनक इसपात।
उर-दोषों को दे हटा, तस प्रभु कृपा बलात्।।१०७०।।

की आवश्यक श्रेष्ठ से, विनय न निष्फल होय।
सो भरोस रख ईश से, पावे, माँगे जोय।।१०७१।।

---

१. दूँद-कलह; २. हटे-हटाती है; ३. रिस-क्रोध;
४. समास-सम्बन्ध, साथ रहना; ५. पय-पानी

रहें धर्म-आबद्ध ही, रहते भी मन-शुद्ध।
उर-थित विभु उनकी सुनें, दें मत भी अविरुद्ध[१]।।००७२।।

अवसि क्षीण विश्वास है, विभु में, चिन्तायुक्त।
न तु जाना जो, सो हुआ, सब भय शंकामुक्त।।००७३।।

की निर्णित फल-कर्म की, विधि[२], पालक भी ईश।
तब न विनय से भी सकें, कृत-फल बदल अधीश।।००७४।।

अध्यायी में मूढ़ता, रहती बची न शेष।
पातक रहें न, ध्यान में, जिसके बसे परेश[३]।।००७५।।

रख आसन शासन करें, आ जब हिय पर ईश।
पावन जीवन सर्वदा, बन तब रहे अधीश।।००७६।।

दिये ईश तन तन्त्र में, यन्त्र मन्त्र[४] नर-नीत।
मानवता अनुरूप ही, रख सो जीवन गीत।।००७७।।

आवश्यक की पूर्ति दें, प्रभु, श्रम-फल उत्थान।
ध्यान करे एकात्म हो, जो उनको निज मान।।००७८।।

सहज सरल निष्पाप हो, पञ्च-विकार[५] अदिग्ध[६]।
प्रकट ईश-अनुभूति को, मनस् अवसि हो स्निग्ध[७]।।००७९।।

पहुँचाती विभु-भक्त को, माया कभी न हान।
अन्यों को कर डालती, पर विनष्ट अविधान[८]।।००८०।।

---

१. अवरुिद्ध- अनुकूल; २. विधि-प्रक्रिया; ३. परेश-ईश्वर; ४. मन्त्र-समझ, बुद्धि; ५. पञ्च-विकार-काम क्रोध मद लोभ मोह; ६. अदिग्ध-अलिप्त; ७. स्निग्ध-दयालु, मृदुल; ८. अविधान-विधि विरुद्ध
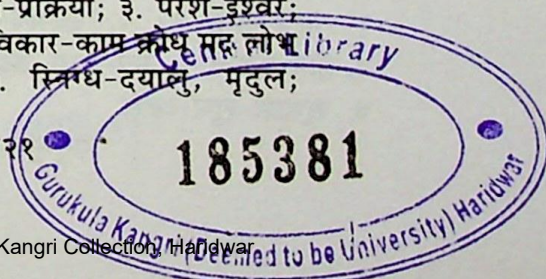
ग्रसित विकारों से हुआ, होता जब असमर्थ।
मातु-नेह, पितु-सीख बन, विभु ही करें समर्थ।७०८१॥

हैं आध्यात्मिक शक्तियाँ, नर गुण कर्म स्वभाव।
साफल्यों का श्रेय दें, विभु-आस्था जब पाव[१]।७०८२॥

पावें वैसी दिव्यता, विभु के बैठ समीप।
नष्ट पाप सन्ताप हों, बने स्वभाव अलीप[२]।७०८३॥

जग-रिश्ते तो स्वार्थ हैं, सत्-आश्रय विभु नात[३]।
क्यों कि विवशता रोग में, लख! को पूछे बात।७०८४॥

विभु सत्ता को दें नहीं, कभी मान्यता मान।
तृप्त न हों उन एषणा, अघ के जनें रुझान।७०८५॥

जीवात्मा का जो रखें, परमात्मा से योग[४]।
कर इन्द्रिय-निग्रह करें, प्राप-लषित वे लोग।७०८६॥

विद्यमानता ईश की, दिपे जिसे सर्वत्र।
कर्म-घृणित करता नहीं, उरस् रहें उस सत्र[५]।७०८७॥

जब चित लगता ईश की, आज्ञाओं की ओर।
धर्म-तेज दृशि[६] में करे, तब शुभाश[७] की भोर।७०८८॥

अस उपासना कर, रखे, उर-शुचि, विभु-थित, शान्ति।
शून्य लोक-एषा रहें, चित चञ्चलता भ्रान्ति।७०८९॥

---

१. पाव-पाती है; २. अलीप-निर्दोष; ३. नात-नाता;
४. योग-एकता; ५. सत्र-पुण्य, उदारता; ६. दृशि-दृष्टिकोण;
७. शुभाश-शुभ+आश

उनमें, भजते प्रेम से, प्रकटें प्रभु प्रत्यक्ष।
अस भजनी को ईश भी, रखें बसा निज अक्ष॥०९०॥

हाथ परम-पितु का रहे, धर्म-निष्ठ के शीश।
सत्-अनन्त का क्योंकि हो, उसका उरस् अधीश॥०९१।

भक्ति-प्रेम के सिन्धु में, जाता है जब डूब।
पाव नन्द अधि मोक्ष से, जैस ओस से दूब॥०९२॥

आदि-पुरुष का अंश हूँ, जब तक समझ न आय।
ठीक ठीक निज शक्ति को, तब तक नर नहिं पाय॥०९३॥

भक्ति भावना ईश को, बने, सुगुण साकार।
किन्तु तत्त्व-दर्शन कहे, उसे निगुण[1] निरकार॥०९४॥

भक्ति भाव से जन्म ले, भक्ति-मयी विश्वास।
तब दे प्रभु, विश्वास से, अपना दृढ़ मन-भास॥०९५॥

उर में भगवत् भावना, भक्ति हेतु पर्याप्त।
मात्र कर्म में सो सदा, यह सुचेत रख व्याप्त॥०९६॥

अन्तर रहित-विकार में, आ बसते प्रभु आप।
किन्तु पुकारे ईश को, वह मन बने विपाप॥०९७॥

जप तप यज्ञ उपासना, पूजा अर्चा पाठ।
सबका लक्ष्य मनुष्य की, बने पूतता साठ[2]॥०९८॥

१. निगुण-निर्गुण; २. साठ-पूँजी

दीठ गहन जितनी रहे, उतना हो सत् बोध।
गोचर जीवन धर्म हो, लोक कर्म-पथ कोध[१]।७०९९॥

दृष्टि आत्मवत् कर रखें, सर्वहिती थिर बुद्धि।
इस साधन से सिद्ध हो, आत्मज्ञान की सिद्धि।७१००॥

धर्म श्रेष्ठ सब धर्म में, लेना प्रभु का नाम।
और जगत् आचार में, करना निर्मल काम।७१०१॥

मोह राग जिसमें नहीं, करे धर्म अनुसार।
दें अस सुधी असक्त को, जग विभु आदर प्यार।७१०२॥

रहे उरस् गूँगा, सुनें, तब कैसे भगवान्।
भाव-करुण सत्-बोलते, सो निज रखें, भवान्[२]।७१०३॥

सोते चलते बैठते, करते, ले प्रभु नाम।
आधि व्याधि दुर्भाग्य पर, लगे पूर्ण तब याम[३]।७१०४॥

नाम बदल भी फूल दे, जस सम गन्ध ललाम।
ईश भाव रख, लें, सुनें, कोई भी तस नाम।७१०५॥

भले लिया आलस्य से, या मन में रख क्रोध।
अवसि नसे प्रभु नाम तो, पाप अगुण[४] अपरोध[५]।७१०६॥

कूट[६] कष्ट में भी डिगा, नहिं प्रभु प्रति विश्वास।
निशि-जाग्रति तप साधना, व्रत, यह ही रक्षास[७]।७१०७॥

१. कोध-दिशा; २. भवान्-श्रीमान्; ३. याम-रोक, नियन्त्रण;
४. अगुण-अवगुण; ५. अपरोध-तुच्छ कार्य, दूषित;
६. कूट-अचल; ७. रक्षास-रक्षा+आस

अर्पण श्रद्धा से करें, प्रभु को पग प्रत्येक।
तब वे नन्द प्रकाश दें, निज सम ज्ञान विवेक॥०१०८॥

लगा रहे, जो ईश में, रख अ-द्वैत निज भाव।
किसी हेतु[१] वह ना रखे, एषा शोक स्वभाव॥०१०९॥

दीपक लौ निर्वात में, रहती ज्यों अस्पन्द।
तस हों यदि विभु ध्यान में, चित हो अचल अछन्द॥०११०॥

सत्य ज्ञान की कान्ति में, बढ़े अ-मम निष्काम।
पावे देहातीत[२] की, अस, सामर्थ्य अदाम[३]॥०१११॥

मात्र ईश अपने रहें, समीपस्थ विदमान।
सो उनसे सम्पर्क भी, पल में सुकर सुजान॥०११२॥

जस चुल्लूभर में रहें, सब नद-गुण विदमान।
नर में तस विभु की मिलें, निहित सभी पहिचान॥०११३॥

भाव-रूप की प्रीति से, सर्जे शून्य अकार।
अश्रु बहाये, त्याग दे, तब नर जग-रति भार॥०११४॥

नमक डली मुख चींट के, न हो मिष्ट अनुभूति।
तस विभुरत मन बिन न हो, तत्-स्वरूप की भूति[४]॥०११५॥

सबको, सेवा के लिए, अपना समझ सुजान।
पर अपने मन-मोद को, प्रभु को ही निज मान॥०११६॥

---

१. हेतु-कारण; २. देहातीत-देहाभिमान रहितता;
३. अदाम-अमूल्य; ४. भूति-उत्पत्ति

प्रभु मनुहार न चाहते, नहिं चाहें उपहार।
पर सबसे अपनत्व का, कर, चाहें व्यवहार॥०११७।

नहिं अपेक्ष विभु पाव को, कुल पद अर्थ विशेष।
पर उर सत् में सिक्त हो, असत् कर्म निर्शेष॥०११८॥

हरी भरी जैसे रहे, पोषित जड़ से डाल।
तस नर, जीवन-चक्र लौं, विभु से रहे निहाल[१]॥०११९॥

भगवत् सुधि में लीन की, सुधि में, विभु भी लीन।
हो सो श्रद्ध अनन्य से, उन निर्भर लवलीन॥०१२०॥

निर्गुण सगुण उपास्य[२] की, आस्था का आधार।
अनुभव करना इष्ट का, भूतों[३] में साकार॥०१२१॥

न दे झलकने सूर को, मुकुर चढ़ा ज्यों रेत।
उर-मल[४] त्यों होने न दें, कभी ईश की चेत॥०१२२॥

काष्ठ, मृदा की मूर्ति में, नहिं पाहन में देव।
पर आस्था विश्वास में, बसे, दिपे स्वयमेव॥०१२३॥

मूल सत्त्व प्रत्येक में, बीज समान समान।
थिति प्रयास जैसे जुटें, तस दें, पर उत्थान॥०१२४॥

समझ कि इक सम्भावना, प्रकट रूप सर्वस्व।
देती लौकिक पूर्णता, आध्यात्मिक वर्चस्व[५]॥०१२५॥

---

१. निहाल-सब प्रकार से तृप्त; २. उपास्य-पूजा किये जाने योग्य; ३. भूत-पञ्चभूत; ४. मल-पाप, कलुष, विकार; ५. वर्चस्व-तेज

सकल विश्व है एक ही, आत्मा का विस्तार।
अतः तुच्छ कुछ भी नहीं, जग में, गहन विचार!॥०१२६॥

आत्मरूप में ईश ही, सबमें, यदि लें जान।
तब सोचें या नहिं करें, अन का बुरा पुमान॥०१२७॥

आत्म-प्रस्थ[१] होकर जिए, जो सामाजिक शील।
श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता वही, मानव-हंस सलील[२]॥०१२८॥

रख सम्वेदनशीलता, तृणवत् तज अभिमान।
बन सहिष्णु तरु सा, जगे, तब विभु क्या, संज्ञान॥०१२९॥

ब्रह्म-मर्म अनुभूति में, पा जाना सत् ज्ञान।
किन्तु विरत-धी-निर्मला[३], सत्यबोध की प्रान॥०१३०॥

ईश-शरणगत जीव हो, स्वतः पूर्ण आश्वस्त।
माँ पितु से समझे बड़ा, क्यों कि रखा सिर हस्त॥०१३१॥

सलिल-पड़ा सौ वर्ष से, चकमक तजे न आग।
तस नीचों बिच नहिं घटे, भक्त श्रद्ध विभु-राग॥०१३२॥

हो सत् से मन, ज्ञान से, बुधि हो पवित प्रबुद्ध[४]।
ब्रह्म-ज्ञान विश्वास से, पर जीवात्म विशुद्ध[५]॥०१३३॥

शब्द-मात्र समझें नहीं, लेना प्रभु का नाम।
स्वतः -अतुल, दे आत्म को, शक्ति ज्ञान सुख साम[६]॥०१३४॥

---

१. प्रस्थ-आत्मा में स्थित; २. सलील-अवतारों के चरित्र का अभिनय करने वाला; ३. विरत-धी-निर्मला-विरक्ति-युक्त निर्मल धी; ४. प्रबुद्ध-विकसित; ५. विशुद्ध-पवित्रतापूर्ण; ६. साम-तुष्टि, नम्रता

बढ़ता प्रभु की ओर को, जिस गति से सुधिवान।
प्रभु गति रखते सौ गुनी, उसकी ओर भवान्।।०१३५।।

जिस मन को मिश्री लगे, परमेश्वर का प्रेम।
राख-स्वाद सुख दे उसे, लगता जग मिथु नेम[१]।।०१३६।।

कर्म देह संसार की, सूक्ष्म-वासना[२], त्याग।
अनय फलेच्छा काम्य[३] का, तज, तब दे विभुराग।।०१३७।।

जग में जीवन एक ही, वर्तमान सर्वत्र।
यह प्रतीति मन-भाव से, मिट दे भय का सत्र[४]।।०१३८।।

जिनमें चित्त-विनम्रता, विभु में श्रद्धा ध्यान।
सहनशीलता तोष पा, उनका जगे स्वज्ञान।।०१३९।।

आत्म-शान्ति चिर लब्ध हो, छुटे[५] सभी जग-भार।
सम्भव दर्शन, तत्त्व का, करता, ज्ञान विचार।।०१४०।।

सजन[६] सरल उर में टिके, श्रद्धादर विश्वास।
छली दम्भ जग-सक्त में, सो विभु करें न वास।।०१४१।।

स्वार्थ-साधना में रहे, भले दान की जूति[७]।
अपनी उसको दें नहीं, प्रभु कदापि अनुभूति।।०१४२।।

इन्द्रिय वश कर लें, रखें, मन पर लगा निरोध[८]।
तब आत्मा का कर सकें, सहज सत्य अनुरोध[९]।।०१४३।।

---

१. नेम-छल; २. वासना-अज्ञान; ३. काम्य-जिसका अपना आकर्षण हो; ४. सत्र-धोखा; ५. छुटे-छुटाता है; ६. सजन-सज्जन; ७. जूति-प्रवृति; ८. निरोध-रोक प्रतिबन्ध; ९. अनुरोध-अनुसरण

मनुज वासना स्वार्थ के, दे जब घेरे तोड़।
तब प्रबोध हो स्वयम् का, क्या समष्टि से जोड़॥०१४४॥

भाव पृथक अस्तित्व का, जने शोक बिखराव।
सर्वऐक्य विश्वास में, पर सुख हर्ष बसाव[1]॥०१४५॥

तन विश्लेषण से मिले, तन भौतिक संसार।
मैं[2] विश्लेषण किन्तु दे, कुछ, संसृति[3] से पार॥०१४६॥

लख! है चेतन-एक का, भिन्न रूप संसार।
उस सुध बिन भटका रहे, प्राणी का व्यवहार॥०१४७॥

मैं ईश्वर का पूत हूँ, हो जब ध्रुव संज्ञान।
सम्मुख तब दिपने लगें, सब ईश्वर सन्तान॥०१४८॥

मात्र ईश सम्पूर्ण में, सम्बन्धी हितकार।
सुखानन्द निश्चिन्त से, जोड़े यह स्वीकार॥०१४९।

इन्दु-ज्योति, जल-मेह सी, विभु अभेद[4] दय-वृष्टि।
कृपा पाव को सो करें, विभु में थिर निज दृष्टि॥०१५०॥

खुलते द्वार प्रवेश हो, भीतर सूर प्रकास।
छल-पट हटते मन बसें, तस विभु आ, बिन यास॥०१५१॥

कृत[5] जब सरल यथार्थ हो, विस्तृत उर-सम्वेद।
परम-तत्व अपरोक्ष हो, कण कण दिपे अभेद॥०१५२॥

---

१ बसाव-बसता है; २. मैं-आत्मा; ३. संसृति-संसार;
४. अभेद-अन्तर- रहित; ५. कृत-उद्देश्य

सर्व कुटिलता त्याग दे, ऋजु कर आत्म-चरित्र।
ईश कृपा की पात्रता, तब पा सकता मित्र।।१५३।।

अपने चेतन दीप का, बुझ जाना नहिं मोक्ष।
वरन् बिन्दु ही सिन्धु है, का दृश्[1] मोक्ष परोक्ष।।१५४।।

जितनी गति से बढ़ रहा, तू ईश्वर की ओर।
उतनी गति से ला रहे, तुझको प्रभु तव-भोर।।१५५।।

छू, खा, सुन या देख हो, जो नहिं मुदित उदास।
पग अस साधक के रखें, सब विभुमय विश्वास।।१५६।।

आये जब अनुभूति में, तन आत्मा हैं भिन्न।
तब चिन्तन सर्वैक्य का, बनता, चरित अछिन्न[2]।।१५७।।

प्राणिमात्र में, ब्रह्म की, कर लें जो पहिचान।
वही अमरता पा सकें, विभुमय रख निज प्रान।।१५८।।

क्यों कन्दरा ढूँढे, रहे, गुहा[3] भूमि में खोद।
बन अन्तर-मुख, पा सके, अन्तः में विभु गोद।।१५९।।

या तो विभु-सुधि लीनता, स्वतः स्वयम् में नन्द।
जड़ जीवन हित कर्म में, या फिर निहितानन्द[4]।।१६०।।

होना जो होगा रखें, पर पर-शिव मन भाव।
तभी शुचित मन हो, बसें, बनकर ईश विभाव[5]।।१६१।।

---

१. दृश्-ज्ञान; २. अछिन्न-अखण्ड; ३. गुहा-गुफा;
४. निहितानन्द-निहित+आनन्द; ५. विभाव-मित्र

प्राणि-मात्र प्रति जो रखें, प्रेम करुण सद्भाव।
प्रतिपल वह सर्वत्र ही, विभु का अनुभव पाव।।०१६२।।

जीव आदि-आनन्द से, बना अनन्द स्वरूप।
पर-शुभ हित रच कर्मके, सो जीवन प्रारूप।।०१६३।।

प्रकट हुआ प्रभु सृष्टि में, धर कर रूप विभिन्न।
अतः सृष्टि कल्याण में, बनकर जुटें अभिन्न।।०१६४।।

कुछ चाहत, दे कुछ भले, पर दे सर्व, अचाह।
अतः विज्ञ कर्तव्य में, पाते चिन्मय[१] थाह।।०१६५।।

तत्त्व-ज्ञान को वस्तुतः, समझें, बनें[२] विचार।
वे ही निज पुरुषार्थ से, करते निज उद्धार।।०१६६।।

नर को बुधि-बल ईश का, देना, दे संकेत।
निर्भर नहिं, पुरुषार्थ से, निज पग चल, अभिप्रेत[३]।।०१६७।।

ईश कृपा है जीव को, चेत शरीर गुणत्त्व।
फिर क्या है अपना, रखे, जो नर दर्प मदत्त्व।।०१६८।।

शठ[४]-मति तर्क वितर्क से, विभु नहिं समझा जाय।
पवित प्रेम उनसे, उनें, प्रकट सहज ही पाय।।०१६९।।

बोध कि है प्रभु सर्वतः, सर्वविज्ञ विस्पन्द[५]।
राग द्वेष उर से हटे, भरे अलोकानन्द[६]।।०१७०।।

१. चिन्मय-परब्रह्म; २. बनें-बनाते हैं; ३. अभिप्रेत- इच्छित; अभिलषित; ४. शठ-धूर्त; ५. विस्पन्द-धड़कन; ६. अलोकानन्द-आध्यात्मिक जगत् का आनन्द

उथल-पुथल यदि चित्त में, करे ध्वंस के काम।
मात्र शान्ति सद्कर्म दे, अस थिति में विभु नाम।।०१७१॥

बन निमित्त अर्पित करे, प्रभु को जो निज कर्म।
जुड़ती शक्ति-अनन्त से, जीवन-यात्रा धर्म।।०१७२॥

दैहिक-मनो कुकर्म से, रहे न जो सम्पृक्त।
समझ चुका वह, है नहीं, जग विभु से अतिरिक्त[१]।।०१७३॥

कार्य-पूर्व अनुभव करें, यदि प्रभु का सान्निध्य।
युक्ति बुद्धि संकल्प का, बने योग तब रिध्य[२]।।०१७४॥

डूब संरस अनुभूति में, पाव भक्ति की छाँव।
उस अविकारी लीन को, सम कन्दर घर-गाँव।।०१७५॥

विवश, सताये, हीन का, बने सहारा ढाल।
जग उसको सत्कार दे, जैसे विश्व-विशाल[३]।।०१७६॥

ईश्वर सत्त्व विधान से, विज्ञ न ही विश्वास।
मनुज नहीं, उसमें रहें, केवल विपिन[४] विलास।।०१७७॥

मिटें न भौत[५] अशान्ति को, धन सम्पद् ऐश्वर्य।
विभु आश्रय विश्वास ही, तब दें शान्ति सुचर्य[६]।।०१७८॥

नहीं मानवी प्रेम का, उर में लेश निवास।
विभु में सम्भव हो सके, प्रेम न तब विश्वास।।०१७९॥

---

१. अतिरिक्त-भिन्न; २. रिध-ऋद्धि; रिध्य-ऋद्धि के योग्य;
३. विश्व-विशाल-ईश्वर; ४. विपिन-जंगली; ५. भौत-भौतिक;
६. सुचर्य-करने योग्य अच्छा

बिना कर्म-संयम न हो, जीव ईश में लीन।
पशु-सम शुष्क असार है, जीवन संयमहीन॥०१८०॥

जो ब्रह्माचारी[१] नहीं, भोगे विषय विलास।
जनम-मरण के क्लेश का, न-कर पाव वह नास॥०१८१॥

ईश भक्ति, बिन ज्ञान की, ईश भक्ति बिन, ज्ञान।
कोउ न कर इनमें सके, सम्भव मुक्ति विधान॥०१८२॥

प्रेम किसी नहिं जीव से, लख निसर्ग, नहिं भोर[२]।
ईश्वर से नहिं जुड़ सके, अस अन्तस[३] की, डोर॥०१८३॥

प्रतिष्ठित[४] अनुभूतियाँ, उर थित, दें विभु रूप।
कहीं न कुछ प्रतीत हो, न तु मन यदि भव-कूप॥०१८४॥

सूख प्रेम-रस व्यापता, जब भी लौकिक मोह।
जीवन-सत् का चित्त से, होने लगे विछोह[५]॥०१८५॥

जकड़ें जीवन-चेतना, नास्तिकता जग-भाव।
शील शान्ति मिट घेरते, दम्भ दर्प उलझाव॥०१८६॥

भरें ठसाठस अज्ञता, कलुष सोच संस्कार।
नास्तिकता उनसे[६] भली, जिसमें शक्य सुधार॥०१८७॥

दया हृदय में है नहीं, कैसे सम्भव दान।
जन्मे दय, अनुभूति में, जब सब विभु सन्तान॥०१८८॥

१. ब्रह्माचारी-ब्रह्म को आचार में लाने वाला; २. भोर-चकित; ३. अन्तस-हृदय, अन्तःकरण; ४. प्रतिष्ठित-सम्मानित; ५. विछोह-विच्छेद, अलगाव; ६. उनसे-उस सोच और संस्कार से

बुद्धि भेद कर देखती, जब, विभिन्न हैं लोग।
अथ टकराहट स्वार्थ की, हो, तब रचे कुयोग।।०१८९।।

अपना नहिं भगवान् का, समझ करें यदि काम।
श्रेष्ठ कर्म संलग्नता, हो दे सुख परिणाम।।०१९०।।

परम नन्द अनुभूति का, पथ ही सत्य-विवेक।
सो विवेक से बुद्धि को, कर सम्पन्न अरेक[१]।।०१९१।।

पल पल का साक्षी वही, अतः धरम को धार।
उससे उचटे[२] के खुलें, नतु अघ-मूलक द्वार।।०१९२।।

कर ईश्वरमय भावना, यही भक्ति, लक्ष्यार्थ।
किन्तु अ-द्वेषी चित्त में, ठहरें भाव यथार्थ।।०१९३।।

मन वशकर, परमेश का, धरे चित्त में रूप।
हो विभु रूपी शान्ति में, उसका विलय अनूप[३]।।०१९४।।

करे नहीं फल-हेतु से, नित कर्तव्य-निभाव।
यही धर्म, नर का करे, ईश्वर में थित भाव।।०१९५।।

मृत्यु, खा चुका ठोकरें, सज्जन, सदा-प्रसन्न।
बना रखे गुरु पाँचवे, प्रभु को, रहे न सन्न[४]।।०१९६।।

इन्द्रिय अनुभव में नहीं, पर श्रद्धा भगवान्।
यही अर्चि[५] मन में गढ़े, सद्भावों को प्रान।।०१९७।।

१. अरेक-निस्सन्देह; २. उचटे-बेमन होकर हटना; ३. अनूप-अनुपम; ४. सन्न-क्षीण, अशक्त, नष्ट; ५. अर्चि-प्रकाश, द्युति

मूल-शक्ति विभु-चेतना, जीवन का अस्तित्व।
यही कर्म अभिलाष में, है शिव, बन दायित्व।।०१९८।।

आते विभु उस दृष्टि में, जिस उर रहे पवित्र।
सर्व-ऐक्य दृशि[1]पर[2] जिए, विभु का मात्र चरित्र।।०१९९।।

गुण भावों से उर करे, विभु स्वरूप सम्भूति[3]।
मन से ही मन कर सके, अतः परम अनुभूति।।०२००।।

प्रभु में ध्रुव श्रद्धा रखें, मानें वह पितु-मात।
डरें न, तल भव सिन्धु का, उनको अंगुल सात।।०२०१।।

डगमग हो सच की भले, पर नहिं डूबे नाव।
प्रभु सुमिरे जिसने, उसे, थामें, बने विभाव।।०२०२।।

मिथ्या माया स्वप्न है, जग को देखे जोय।
उसकी जगदाधार से, तुरत दृष्टि युत[4] होय।।०२०३।।

गूँगे मन का भी सुने, स्वर इतना थित दूर।
ज्ञान-चक्षु से दृष्ट है, देख! ईश भरपूर।।०२०४।।

आत्म-समाहित हो गया, चित् चिन्तन सुख धाप[5]।
सन्त पातकी में उसे, मात्र दिपें तब आप।।०२०५।।

मूर्त-रूप चैतन्य का, समझ रखे सम-दृष्टि।
वह ही सत्-गुरु, त्याग से, भवतर पावे हृष्टि[6]।।०२०६।।

---

१. दृशि-दृष्टि; २. पर-परन्तु; ३. सम्भूति-उत्पत्ति, जन्म; ४. युत-संयुक्त;
५. धाप-सन्तोष तृप्ति; ६. हृष्टि-आनन्द

अनुभव स्वयम् स्वरूप का, चिर सुख नन्द प्रसाद[१]।
दुख दुख दे नहिं, सौख्य दे, तब नहिं सुख-उन्माद।।०२०७।।

अनुभव आत्मा नन्द का, जो करता अविराम।
ब्रह्म रूप हो पा सके, सुख दुख से उपराम[२]।।०२०८।।

जीव जीव में चेतना, यदि देखो परमात्म।
अहित किसी का भी कभी, करे न तब नर आत्म।।०२०९।।

नश्वर, सो मिथु[३] जान, है, जो अकार निर्माण[४]।
चिर-अरूप, अनुभूति से, निश्चय, दे निर्वाण।।०२१०।।

जीवन का आनन्द ही, मौलिक अमरित[५] भेद[६]।
जीकर विभु को कर्म में, मिल सकता बिन स्वेद[७]।।०२११।।

उसमें जग, वह जग रमा, देखे जिसकी दृष्टि।
जिए सफल जीवन वही, उरस् पूर्णन्भर हृष्टि।।०२१२।।

सत् विभु है, सत्संग है, विभु का करना संग।
विश्व-दृष्टि सो ईश सी, रख अन्तः बहिरंग।।०२१३।।

कर संगति सद्-ज्ञान की, यही उगे कल्याण।
सहज अन्ततः दे मिला, महाप्राण में प्राण।।०२१४।।

अपनी गरिमा सत्व को, अन्तर-लख पहिचान।
बहुत सरल तब जानना, परम तत्व का ज्ञान।।०२१५।।

---

१. प्रसाद-प्रसन्नता, मानसिक शान्ति; २. उपराम-निवृति, विषय में विराग; ३. मिथु-मिथ्या, झूठ; ४. अकार निर्माण-आकार एवम् निर्माण; ५. अमरित-अमृत; ६. भेद-रहस्य; ७. स्वेद-परिश्रम

कर विचारणा भावना, का उत्कृष्टाधान[१]।
यही परम आराधना, यही परम अनुपान[२]॥०२१६॥

किया मृत्यु के सत्य को, जिसने भी स्वीकार।
डूबा विभु विश्वास में, समझा जगत् असार॥०२१७॥

उदित हृदय का ज्ञान हो, मन-भ्रम का संघात।
करता आत्म-अ-द्वैत का, मानव जब साक्षात्॥०२१८॥

अस्वीकार यदि कर दिया, 'जो नहिं है' का भ्राम।
होता 'जो है' का स्वतः, तब अनुभव अविराम॥०२१९॥

'सिया राम मय' लख करे, जब नर जग को प्यार।
स्वर्ग उतर आता तभी, भू पर सभी प्रकार॥०२२०॥

सेवा में, निज प्रेम को, कर परिवर्तित, पूज।
सतत् सुनेगा ईश की, उर में तब मधु गूँज॥०२२१॥

सबकी सेवा मात्र कर, सबसे प्रेम प्रगाढ़।
तब विभु चहुँ भासें[३], करें, स्वीय[४] प्रेम की बाढ़॥०२२२॥

कलियुग को सतयुग करें, सदाचार के बीज।
आस्तिकता ही उग[५] सके, पर मन में सद्-धीज[६]॥०२२३॥

मात्र मिला विभु से सके, अपनत का विस्तार।
प्रेम जगा ऐसा, लगे, मैं ही मैं संसार॥०२२४॥

---

१. आधान-धारण करना; २. अनुपान-पथ्य; ३. भासना-अनुभूति होना; ४. स्वीय-अपने; ५ उग-उदय करना; ६. धीज-विश्वास

जब मन अपने रूप को, करता स्वत: समाप्त।
तब आ जगत्-अभिन्नता, उसे बनाती आप्त[१] ॥०२२५॥

मोह अहंता द्वैधता, मिट विकसे एकात्म।
आत्म-परिधि तब लाँघता, बने जीव परमात्म॥०२२६॥

सत्यम् उर-परिशुद्धता, शिवम् मनुज कर्तव्य।
पर-सेवा ही सुन्दरम्, लख नर में विभु-भव्य[२] ॥०२२७॥

जीवन में विश्वास का, सर्वसत्य उपयोग।
अपना विभु का, मानना, सिन्धु-बूँद संयोग॥०२२८॥

करने में जिस कर्म के, दैवी अनुभव होय।
रे नर! जीवन-माल में, अस कृत ही रख पोय[३] ॥०२२९॥

विलय ईश में जीव का, है नर-जीवन लक्ष।
सम्भव पाना, यदि बनें, सद्गुण-पुञ्ज प्रत्यक्ष[४] ॥०२३०॥

साध्य[५] जनम का, पावना, विभु को, साधन देह।
तन रक्षा-भर भौत से, रखाना अत: सनेह॥०२३१॥

माँग बुद्धि बल ईश से, कर पर-हेतु प्रयोग।
जिससे वसुधा पा सके, उसकी सुखद सुयोग॥०२३२॥

जीवन में रखना बना, मन को मनुज[६] अपाप।
क्योंकि मित्र उत्तम यही, स्वीय निकटतम आप[७] ॥०२३३॥

---

१. आप्त-यथार्थ ज्ञान रखने वाला; २. विभु-भव्य-भगवान् की भव्यता; ३. पोय-पिरोना; ४. प्रत्यक्ष-प्रकट; ५. साध्य-लक्ष्य; ६. मनुज-मनुष्यता; ७. आप-परमात्मा

जीवन का चिर रूप

लब्ध सभी सुख-भोग, क्यों, फिर नर दुखी अशान्त।
साक्ष्य कि निज़-सत् हेल[१] से, पाव न चित[२] थिर दान्त[३]॥०२३४॥

भौतिक सञ्चय खोज में, नर का सुख-विश्वास।
सो निज के सच से रहे, दूर, भोगता गास[४]॥०२३५॥

मानव अपने आप से, है नितान्त अनभिज्ञ।
अतः सत्य-सुख-शान्ति को, बना, पदार्थ प्रतिज्ञ[५]॥०२३६॥

जड़ता से क्यों जुड़ रहा, चेतन को पहिचान।
लख जीवन के सत्य को, बन आनन्द विमान[६]॥०२३७॥

जाने नहीं सुधर्म[७] को, रहे मोह जग-रक्त।
निज जीवन-यात्रा करे, लम्बी ऐस अव्यक्त[८]॥०२३८॥

जगत् नाट्यशाला जहाँ, अभिनय करता जीव।
स्वको पात्र में ढाल ही, हो जीवन सञ्जीव॥०२३९॥

अन्तिम थिति उत्थान की, क्या है, गहन विचार।
पर-सेवा विभु-भक्ति से, तब निज कर्म सँवार॥०२४०॥

आत्म-मन्थ कर, ईश ने, क्यों दी है नर देह।
मोह-प्रणीत प्रपञ्च से, तब छुट हो प्रभु नेह॥०२४१॥

---

१. हेल-उपेक्षा; २. चित-अन्तःकरण; ३. दान्त-शान्त; ४. गास-संकट;
५. प्रतिज्ञ-स्वीकार करने वाला; ६. विमान-देव मन्दिर; ७. सुधर्म-कर्तव्य;
८. अव्यक्त-मूर्ख व्यक्ति

मिलता अन्त: खोज से, जीवन का उद्देश।
उगता उर के खेत में, तब आनन्द-दिनेश।।२४२।।

निज अन्त: में खोजना, पड़ता जीवन लक्ष।
युक्त उपायों पर रहें, टिकी हुई तब अक्ष।।२४३।।

अटल नियम, जो खोजते, पाव अवसि सत् पन्थ।
जीवन व्याख्या को, करें, अत: गहन मन-मन्थ।।२४४।।

आत्मा से तन का मिलन, है प्राणी का सत्त्व[1]।
फिर भी मृद-तन-तुष्टि में, बिसरें, आत्मन् तत्त्व।।२४५।।

जिसने न कीं स्वज्ञान की, सञ्चित कतिपय बूँद।
उसने जीवन रत्न को, खोया मृद-सम रूँद[2]।।२४६।।

समझ चुका जो स्वयम् का, अजर अजन्मा रूप।
वह तत्त्व सम्पूर्ण का, समझ हुआ, तद्रूप।।२४७।।

जीवन क्यों, के अर्थ को, लेता जो भी जान।
वही सार्थ-जीवन जिए, करे स्वकी पहिचान।।२४८।।

अपने को पहिचानना, केवल जीवन ध्येय।
तभी प्रश्न जीवन-जुड़े[3], पाव ठौर शुभ प्रेय[4]।।२४९।।

परिचय पाना स्वयम् का, ही है अन्तर्-ज्ञान।
जग में निज उपयोग का, तब हो निश्चित भान।।२५०।।

---

१. सत्त्व-अस्तित्व; २. रूँद-पैरों से कुचलना; ३. जीवन-जुड़े-जीवन से जुड़े हुए; ४. प्रेय-प्रियतर

श्रान्ति[1] क्लान्ति[2] विचलन[3] मिटें, मन से हटें विरोध।
सक्षम सहयोगी बनें, पाकर निज सत्-बोध॥०२५१॥

जग अस कौतूहल जिसे, पा भी बुझे न प्यास।
मात्र दृश्य[4], खोजें उसे, अन्तस्-लय जो भास॥०२५२॥

अन्दर के सौन्दर्य को, कर विश्वास! निहार।
इष्ट सिद्धि दे, छाँट दे, जन्मों के अँधियार॥०२५३॥

नहीं बसाया नैन में, कैसे हो उर वास।
उर-थित ही जाज्वल्य हो, बन तव वदन[5] विभास[6]॥०२५४॥

अगिन वस्तुओं से चुने, जस मन एषा-मात्र।
तस जीवन की तृप्ति का, आत्म-प्राप्ति है शास्त्र[7]॥०२५५॥

अन के मन को पढ़ सके, है वह चतुर सुजान।
कहें आत्म-ज्ञानी उसे, जो कर सका स्वज्ञान॥०२५६॥

करता इन्द्रिय वेग को, शान्त, वही सत्-ज्ञान।
पाव ज्ञान-सत् पर, जिसे, आत्मा की पहिचान॥०२५७॥

जन्म-लक्ष्य उर-दृष्टि में, आत्मा-सत्, रम जाय।
इस हित भाव-परार्थ से, सेवो जीव, उपाय॥०२५८॥

नहिं इन्द्रिय सुख भोग को, विभु ने रचा मनुष्य।
वरन् स्वसत् को जानना, लक्ष्य, लगा आयुष्य[8]॥०२५९॥

१.श्रान्ति-खिन्नता; २.क्लान्ति-हतोत्साह; ३.विचलन-निश्चय में अस्थिरता; ४. दृश्य-देखने योग्य; ५. वदन-मुख; ६. विभास-चमक; ७. शास्त्र-सिद्धान्त; ८. आयुष्य-जीवन-शक्ति

मणि कोयला में कोयला, नग शिल्पी पर, एक।
तस संगत चुन पा सके, रंगत नर प्रत्येक॥२६०॥

यदि अनगढ़, फिँकता फिरे, नग ज्यों वस्तु असार।
जीवन बिन साधे, सहे, तस दुर्गति की मार॥२६१॥

तन-प्रवेश कर जीव ही, बनता है मन प्राण।
कर्म-गाँठ[1] सिर सो लिए, जग से करे प्रयाण॥२६२॥

हो जीवन की साँझ में, पल पल वह मन भीत।
जिसने आजीवन कभी, विभु से रखी न प्रीत॥२६३॥

लगे झुलसने सूखने, अन्तःकरण-महत्त्व[2]।
नीरस, भरा अतृप्ति से, तब हो जीवन-सत्त्व[3]॥२६४॥

इक बौद्धिक परिपक्वता, इक विवेक का धीर।
जीवन की सामान्यता, में झाँके गम्भीर॥२६५॥

विषम-जूझ की धीरता, वासनाओं का वश्य।
सक्षम विक्रम निश्चयी, आत्म हेतु आवश्य॥२६६॥

तत्त्व-ज्ञान अरु साधना, मिल दें सत्परिणाम।
ऋद्धि सिद्धि वहिरंग को, उर-गत[4] हो विभु धाम॥२६७॥

जीव प्रेम निस्स्वार्थ से, जने भाव एकात्म।
तब प्रवेश प्रभु प्रेम में, स्वतः करे जीवात्म॥२६८॥

---

१. गाँठ-गठरी; २. अन्तःकरण महत्त्व-आत्मा की महत्ता;
३. सत्त्व-अस्तित्व; ४. उर-गत-अन्दर की ओर स्थित

नश्वर के प्रति राग से, मिले मात्र दुख शोक।
आत्म-ईश इक, बोध ही, शाश्वत नन्दि[१] सुखोक[२]।।०२६९।।

जल बुदबुदवत् भंग हो, नाशवान अस देह।
आत्मादेशित[३]कर्म में, रखें अत: थिर नेह।।०२७०।

ज्ञान स्वजीव स्वरूप का, करे भस्म सब पाप।
भल कर्मों को दिव्यता, भी दे, यह बन ताप।।०२७१।।

सखा भले साँचा कहें, हो सकता सन्देह।
पर बन अस व्यवहार में, विमन[४] कहें बिन-छेह[५]।।०२७२।।

स्वात्मन् में सौन्दर्य है, जस कलि में मधुमास।
जाग्रत हो सद्कर्म से, दे तब योग्य विकास।।०२७३।।

जिए आत्म की चेतना, जीव विशुद्ध अघूर्ण[६]।
उसका तब ही हो सके, आत्म उन्नयन पूर्ण।।०२७४।।

लघुता मिटा विराट हो, पा आत्मा-चैतन्य।
समझ, जीव है वस्तुत:, महाचेतना जन्य।।०२७५।।

विकस चेतना आत्म की, दे तात्त्विक आलोक।
जीवन धारा पा बहे, तब आनन्द विशोक।।०२७६।।

पृथक अपद[७] अरु केंचुली, हों इक यदपि प्रतीत।
तन आत्मा का बन्ध भी, तस नश्वर, क्षण नीत[८]।।०२७७।।

---

१. नन्दि-आनन्द; २. सुखोक-सुख+ओक=सुख निवास; ३. आत्मादेशित=आत्मा+आदेशित; ४. विमन-विरोध भाव वाले; ५. छेह-छिद्र,दोष; ६. अघूर्ण-अभ्रान्त; ७. अपद-सर्प; ८. नीत-ग्रहण किया हुआ; प्राप्त।

आत्मा से निस्सृत हुआ, पालन करें विचार।
दे सौन्दर्य स्वभाव को, उर को शान्ति अपार॥०२७८॥

पर-जीवन से प्रेम ही, है सच्चा अध्यात्म।
सर्व-ऐक्य की चेत में, अतः योग कर आत्म॥०२७९॥

आत्मा के चैतन्य में, रखें जीव को लीन।
तमस्[1]ताप[2] दुख भी जहाँ, हों अस्तित्व-विहीन॥०२८०॥

आस्तिकता विभु सत्त्व में, मात्र नहीं विश्वास।
आत्म उरस् में बर्तना, वरन् ऐश-गुण-भास[3]॥०२८१॥

जिज्ञासा उत्पन्न हो, आराधन में राग[4]।
ईश-पृक्त[5] तप में रहे, सत्-जीवन की जाग॥०२८२॥

निरख, गहन गम्भीर हो, जग की गति को जान।
त्यागेगा जग-बन्ध को, निश्चित, कर संज्ञान॥०२८३।

श्रेष्ठ, आत्म-विश्वास की, ले समरथ पतवार।
चित्[6]-पथ जीवन पोत का, चुन करते भव पार॥०२८४॥

भाव सर्व-कल्याण के, अन्तः का दिव्यत्व।
सो जागृत, जग जीव से, कर आत्मिक अपनत्व॥०२८५॥

और बड़ा हूँ, एषणा, पाती जहँ पर अन्त।
उदित वहीं से ठीक हो, बन मन सन्त, सुयन्त[7]॥०२८६॥

१. तमस्-भ्रम; २. ताप-मानसिक व्यथा; ३. भास-दीप्ति; ४. राग-प्रेम; ५. पृक्त-सम्बद्ध, युक्त; ६. चित्-आत्मा; ७. सुयन्त-अच्छा सारथी

जीवन-रथ पर जीव है, अर्जुन, व्यथित प्रतीत।
योग्य दिशा दे कृष्ण सी, आत्मा शक्ति विनीत[१]।।०२८७।।

ममता तृष्णा-शून्य की, थिति, जग-बन्धन मुक्ति।
उरस्-अज्ञ मिट हो तभी, आत्म-ईश संयुक्ति।।०२८८।।

चिन्त चाहना चित्त की, मिटें शोक मैं हर्ष।
मुक्ति अर्थ, सब शून्य हो, कोप घृणा आकर्ष।।०२८९।।

नहिं अभुक्त में वासना, नहिं स्वभुक्त में रक्त।
जग में रह कर भी रहे, अस उर में विभु व्यक्त[२]।।०२९०।।

सब तन सुख-हित ही न कर, लख आत्मा का स्वार्थ।
क्यों कि आत्म तू, आत्म की, तुष्टि करे परमार्थ।।०२९१।।

तुम नायक धीमान हो, शक्य कि हो धनवान।
ईश कृपा पाये, बिना, पर सब क्षणिक पिधान[३]।।०२९२।।

जिसमें दोष न जन्म लें, हो नहिं गुण अभिमान।
सदा स्व-स्थ ईशस्थ हो, रहता ऐस पुमान[४]।।०२९३।।

अन्तःकरण पवित्र दें, करें ईश से माँग।
स्वतः तभी वर[५] में बहे, शिव विचार की गाँग[६]।।०२९४।।

आत्मा प्रतिपल चाहती, यदि कर्तव्य निबाह।
समझें उसका हो गया, ईश्वर में अवगाह[७]।।०२९५।।

१. विनीत-ज्ञान रखने वाला; २. व्यक्त-प्रत्यक्ष; ३. पिधान-आवरण; ४.पुमान-पुरुष, मनुष्य; ५. वर-वरदान में; ६. गाँग-गंगा; ७. अवगाह-गहरे पैठना

जनम जनम बदलें पिता, माता परिजन बन्धु।
पर अटूट हमसे रखे, बन्ध[1]अनथ[2]-अथ[3] सिन्धु।।०२९६॥

प्राण बुद्धि मन इन्द्रियाँ, अपना नहीं शरीर।
जैसा भी है एक है, वह विभु, अपना हीर[4]।।०२९७॥

भसम अगन सम्पर्क से, हों जस भौतिक लब्ध।
तस विभु नाम उपासना, नसे पाप प्रारब्ध।।०२९८॥

दूरी हो जब ईश से, उपजे तर्क-वितर्क।
किन्तु निकटता दे हटा, तद्-विषयक मन-नर्क।।०२९९॥

किया न, ईश्वर प्राप्ति का, निश्चित जीवन लक्ष।
तब तक भटक अशान्ति में, जीता मनुज विपक्ष[5]।।०३००॥

करें धर्म संस्थापना, प्रभु, अधर्म का अन्त।
यही मनुज से चाहते, करे जन्म पर्यन्त।।०३०१॥

करे सकार[6] स्वरूप में, उन पर हो विश्वास।
केवल इतनी सी रखें, भगवन् हमसे आस।।०३०२॥

सकुच भावना युक्त हैं, सम्पद् यश ऐश्वर्य।
भावादर्श विकास को, प्रभु से जुड़ना वर्य[7]।।०३०३॥

हो विभु में विश्वास से, उत्फुल्लित उत्साह।
हट निराश, बल आत्म का, बढ़, दे दुष्कर थाह।।०३०४॥

---

१. बन्ध-बन्धन; २. अनथ-अनादि; ३. अथ-आदि; ४. हीर- सार अंश; ५. विपक्ष-प्रतिकूल; ६. सकार-सकारात्मक; ७. वर्य-श्रेष्ठ; चुनने योग्य

एकहि आत्मा जानता, सब जीवों में व्याप्त।
वही ब्रह्म-थित, शेष हैं, कर्म ज्ञान तक आप्त ॥०३०५॥

हो जग-गति के ज्ञान से, गोचर प्रभु पहिचान।
प्रस्फुट हो तब प्रेम का, उन प्रति स्रोत अमान ॥०३०६॥

डर कर विभु के दण्ड से, करे नहीं दुष्कर्म।
अस निश्चय ही पा सके, विभु स्वभाव गुण धर्म॥०३०७॥

जो ईश्वर को जानते, होते नम्र स्वभाव।
पर स्व-ज्ञात में भी रहे, नहीं अहम् दुर्भाव॥०३०८॥

भले अधन फिर भी करे, यथा-शक्ति वरदान।
क्रोध पिए, करता क्षमा, वह विभु-मिन्त समान॥०३०९॥

भक्त वही जो सर्वदा, विभु से रहे विभक्त।
भक्ति भक्त का ईश से, करे योग, रख रक्त॥०३१०॥

पड़ी रहे जल में भले, चकमक तजे न आग।
भव में रह तस भक्त भी, तजे न विभु श्रिति राग॥०३११॥

भय आशंका भी बढ़े, धन सम्पद् के साथ।
पर स्व-ज्ञान-धन दे अभय, दश-दिश् से ज्यों नाथ॥०३१२॥

श्रद्ध आत्म-में, अन्ततः, ईश्वर में विश्वास।
सो अचिन्त रह, साथ दे, विपदा में बन यास॥०३१३॥

---

१. आप्त-प्राप्त; २.गति-लीला; ३. अमान-असीम; ४. वरदान-किसी को इष्ट वस्तु देना; ५. श्रिति-आश्रय; प्रेम

राग-द्वेष संयोग के, सर्व नाम संसार।
मिटे इनें चित से, उसे, सहज ईश साकार॥०३१४॥

ईश्वर ने जो दे दिया, लें उसमें आनन्द।
अन्तः मुद इससे मिले, इषणें सरल अछन्द॥०३१५॥

लख! ईश्वर है प्रेरणा, कर शुभ, दे उत्साह।
अतः चाहना चेतना, जग[१], पा[२] श्रेय उमाह[३]॥०३१६॥

इष्ट न शुभ जिस ज्ञान का, जीवन वह अभिशाप।
पतित मलिन आत्मा बनें[४], कर्म सभी वे पाप॥०३१७॥

हैं समस्त इस देह से, सांसारिक सम्बन्ध।
प्रेम, ईश आनन्द से, पर आत्मा के बन्ध॥०३१८॥

समझ आत्म को, त्यों जिएँ, पायी सो नर देह।
आह! पुष्टि में पर रहे, तन का तन पर नेह॥०३१९॥

अर्थ शब्द अध्यात्म का, आत्मा पर अधिकार।
आशय इसका, नर बने, सद्‌गुणमय अविकार॥०३२०॥

कर! आत्मा आदर्श का, दे सदैव आदेश।
मूल, प्रेम आनन्द है, क्यों कि आत्म का वेश[५]॥०३२१॥

स्वाभाविक स्वर आत्म[६] का, अर्थ[७], धर्म का मात्र।
अन्तः जीवन-पूतता, ईश ओर पथ-यात्र[८]॥०३२२॥

---

१. जग-जगा; २. पा-पाकर; ३. उमाह-आनन्द; ४. बनें-बनाते है;
५. वेश-रूप; ६. आत्म-आत्मा; ७. अर्थ-शब्द का अभिप्राय;
८. पथ-यात्र-यात्रा का पथ

आवश्यक है जानना, क्या है नित्य अनित्य।
तब हो विदित कि पूर्ण ही, आत्मा का लालित्य।।३२३।।

आत्म-ज्ञान की शून्यता, अल्प आत्म-विश्वास।
अपकृति को रोकें नहीं, रोकें चरित विकास।।३२४।।

मूल्यादर्श उपेखना[१], दे सकती यश भोग।
पर आत्मा को मारना, दे चित-शान्ति-वियोग।।३२५।।

आत्मा की अवहेलना, कर, करता कुछ और।
सुर भी भला न कर सकें, उसका दुख में ठौर।।३२६।।

है विस्मर[२] निज-सत्य का, तत्क्षण मृत्यु समान।
आत्म-चेतना-थित जिए, किन्तु वास्तविक-ज्ञान।।३२७।।

अन्तः चेतन भाव को, ले जो आत्मा जान।
देखे अस सर्वत्र ही, है आत्मा विदमान।।३२८।।

पटुता वैभव स्वास्थ्य हो, क्षीण, न करना चिन्त।
चिन्त्य[३]! आत्मबल यदि घटे, न हो आत्मसुधि मिन्त।।३२९।।

तृषा अहंता वासना, में मन रमना भोग।
सूझ आत्म में पैठना, आत्म-निरति ही योग।।३३०।।

रतन-तेज दमके नहीं, जब उस चढ़ी करैल[४]।
वासनाओं का त्यों ढके, आत्म-अरुण[५] को मैल।।३३१।।

---

१. उपेखना-उपेक्षा करना; २. विस्मर-विस्मरण; ३. चिन्त्य-चिन्तनीय; ४. करैल-काली मिट्टी; ५. अरुण-सूर्य

भौत विषय-सुख पावना, मन-विकार दे शोक।
आत्मिक पथ पर कर्म का, होना, नन्दन ओक[१]।।०३३२।।

सुविधा द्रव्य विलास के, दे निसर्ग[२] की कोख।
पवित-आत्म आनन्द दे, मन-सौन्दर्य विदोख[३]।।०३३३।।

आत्मा का बल ज्यों बढ़े, हटते बाधा विघ्न।
प्रकट कार्य-सामर्थ्य हों, तेजस्वी अन-विग्न[४]।।०३३४।।

गुण बढ़ने से बल बढ़े, बनें विघ्न भी दास।
आत्मा के गुण सींचना, अतः, नित्य कर यास।।०३३५।।

आत्मा से निकला, किया, नहीं प्रयोग, विचार।
कथनी करनी भिन्नता, पनपें तभी विकार।।०३३६।।

निरखे बिन निज आत्म को, हो नहिं सकें उदार।
पाव न, बिना उदारता, हर्ष स्वयम्, संसार।।०३३७।।

पावनतम मन्दिर बना, आत्मा का, यह देह।
इच्छा हट, बरसे तभी, जड़ जीवन प्रति नेह।।०३३८।।

आत्मिक पथ पर चल मिले, निर्मल धी सन्तोष।
शनैः शनैः मिटने लगें, अन्तः दुर्गुण दोष।।०३३९।।

आत्मा जागृत दे सके, जीवन को सौन्दर्य।
सेवा करुणा नम्रता, इस निमित्त सो चर्य[५]।।०३४०।।

---

१. ओक-आनन्द देने वाला घर; २. निसर्ग-प्रकृति;
३. विदोख-निर्दोष; ४. विग्न-क्षुब्ध; भीत; ५. चर्य-आचरित

आत्मिक-सुख आनन्द है, जिसे जने उर-दृश्य।
सत्य धर्म पगडण्डियाँ, दें, शाश्वत अन-तृष्य[१]।।०३४१।।

मरे आत्म, कर लब्धियाँ, तिकड़म से जाज्वल्य।
सो पा निज उद्योग से, धन सम्पद् साफल्य।।०३४२।।

आत्मा की अनुगामिनी, बन जाये यदि बुद्धि।
मन का उच्चाटन[२] रुके, होती चित्त विशुद्धि।।०३४३।।

लोक दृष्टि से सोचती, सदा हिताहित बुद्धि।
पर जब आत्मा को सुने, विभुमय बने प्रबुद्धि[३]।।०३४४।।

मिलते जीवन-दृष्टि को, प्रकट दिशाएँ अर्थ।
है यदि आत्मा की धड़क, सुनने की सामर्थ।।०३४५।।

पाते आत्मारूप में, जब अपने को आप।
शान्ति गङ्ग अवतीर्ण हो, हटतीं इषण अनाप[४]।।०३४६।।

हों आत्मा के ज्ञान से, एषा चिन्ता दूर।
सम-थिति सुख दुख में बने, हो अजात्म[५] अविदूर[६]।।०३४७।।

सर्वशक्ति सम्पन्न है, स्वात्मा रख विश्वास।
सो आत्मा को सर्वदा, सुन, दे जय पथ यास[७]।।०३४८।।

कर निर्भय हो, जो कि हो, अन्तः को स्वीकार।
पार न वह करना जिसे, दे आत्मा धिक्कार।।०३४९।।

---

१. तृष्य-लोभ करने योग्य; २. उच्चाटन-उचटना; ३. प्रबुद्धि-जागृति;
४. अनाप-अपरिमित; ५. अजात्म-अज+आत्म=ईश व आत्मा;
६. अविदूर-निकटवर्ती; ७. यास-प्रयास

लौटे नहीं अँधार में, पाकर शलभ प्रकाश।
तस स्वबोध[1], नहिं धर्म को, तजे, भले हो नाश।।०३५०।।

केवट-सम भव से तरे, वह अनुभव अध्यात्म।
उस अनुभव की खोज दे, सद्गुरु अन्तः आत्म।।०३५१।।

आत्म-चिन्तना सर्वदा, करती सुगुण विकास।
लेता जग-कल्याण का, तब पथ उर में आस[2]।।०३५२।।

आत्मशक्ति अर्जित करें, पर-हित में उपयोग।
सर्वोत्तम प्रज्ञा यही, करे परम से योग।।०३५३।।

हो गो[3]-सत्य, सहायता, निष्ठामय निस्स्वार्थ।
तब विचित्र आनन्द से, पुलके[4] आत्म-यथार्थ।।०३५४।।

वैचारिक परिदृश्य में, पा उत्थान विकास।
उग सकती धरती यही, आत्मिक प्रेम सुवास।।०३५५।।

निज अवगुण, गुण और के, लख तो भली प्रकार।
अवसि पाव कैवल्य[5] को, इक दिन यही निहार[6]।।०३५६।।

आत्म-प्रगति सर्वोच्च का, सम्भव है अनुरोध।
यदि जग-रति तज, नर करे, आत्म-रूप का बोध।।०३५७।।

भ्रष्ट-चरित दुश्चिन्तना, भारी हैं मत लाद।
आत्मिक उन्नति के नहीं, उठने दें ये पाद[7]।।०३५८।।

---

१. स्वबोध-जिसे आत्मबोध हो गया; २. आस-आसन, बैठना; ३. गो-वाणी; ४. पुलके-हर्ष-विह्वल; ५. कैवल्य-मोक्ष, स्वरूप में स्थिति; ६. निहार-देखना, दृष्टि; ७. पाद-पैर

सम्मति आत्मा की सुने, करे उसी अनुरूप।
कभी न धोखा पा सके, अस चित विमल अनूप॥०३५९॥

जस की तस कर जो सके, निज अन्तस को व्यक्त।
है सर्वोपरि साहसी, जीवन वह सत्-रक्त॥०३६०॥

अन्यों को जो जीत ले, कहते उसे समर्थ।
जीत सका पर स्वयम् को, समझा अपना-अर्थ॥०३६१॥

आत्मा का पोषण करें, कर सेवा उपकार।
क्योंकि देह तव सच नहीं, आत्मा है चिर सार॥०३६२॥

इष्ट नाम-जप सर्वदा, जीवन करे पवित्र।
आत्मिक-बल को दे बढ़ा, स्वर में सौम्य[1] विचित्र॥०३६३॥

करें अमल उर से, न दें, शंस निन्द पर ध्यान।
जीवन तब सद्युक्त हो, आत्म-तेज उत्थान॥०३६४॥

वाह्य नहीं लख स्वयम् को, तब कर अपन सुधार।
जब समझे, 'हूँ आत्म' हो, तभी पूर्ण संस्कार[2]॥०३६५॥

भटकायेगी वासना, तज, कर नहिं स्वीकार।
वरन् आत्म-निर्देश को, दे जीवन अधिकार॥०३६६॥

इन्द्रिय विजय न पा सके, न मन शान्त एकाग्र।
आत्म-ज्ञान पाये नहीं, अघरत, भले कुशाग्र॥०३६७॥

---

१. सौम्य-मधुरता; २. संस्कार-परिष्कार, शुद्धि

प्रकट, त्याग-गुण को करे, यदि विचार निस्स्वार्थ।
उजला जीवन पर्व सा, तब हो आत्म-हितार्थ[१]॥०३६८॥

जितन आत्म-विश्वास है, जितना है पुरुषार्थ।
प्रभु के करुणा कोष से, उतना मिले दयार्थ[२]॥०३६९॥

चिर प्रचण्ड व्यापी[३] रहें, आत्मशक्ति के पाक[४]।
यही चरम-पुरुषार्थ, सो, अर्जित कर यह धाक[५]॥०३७०॥

यद्यपि क्षण-सुख दें सभी, जग के भोग पदार्थ।
करता पूर्ण स्वबोध ही, पर चिर-सुख का स्वार्थ॥०३७१॥

छलता जीवन मनमुखी, सुने न चित की एक।
रखकर जीवित दम्भ को, कर दे मौन विवेक॥०३७२॥

पापों से विद्रूप हों, आत्मिक वृत्ति स्वभाव।
सदाचारमय परहिती, सो रख चिन्तन भाव॥०३७३॥

अहम् डींग का अन्त दे, आत्म-ज्योति यश मान।
साथ छोड़ दें अन्यथा, स्वगुण मिन्त भगवान्॥०३७४॥

हो इन्द्रिय-शम ज्ञान से, ब्रह्म रूप को प्राप।
इनके मनुज अभाव में, भटक करे मन-पाप॥०३७५॥

जब तक अन्तः को नहीं, निज की हो पहिचान।
जग प्रपञ्च रखता बना, उसे स्वार्थ अभिमान॥०३७६॥

---

१. आत्म-हितार्थ-आत्मा के लिए; २. दयार्थ-दयालाभ;
३. व्यापी-सदैव रहने वाले; ४. पाक-परिणाम; ५. धाक-सहारा

ढक लें लोभन-बुद्धि के, नर को जब पशु-जाल।
अन्तः दे, न सुने भले, फिर भी पथ तत्काल।।०३७७।।

क्यों हो गहन विचारना, जग प्रपञ्च उद्‌भूत।
तब उपाय करना, बने, जो अन्तः उर पूत[१]।।०३७८।।

वर्तमान को साधना, है चित-वृत्ति निरोध।
जी समग्रता में, कहे, भक्ति-योग यह बोध।।०३७९।।

अन्तःकरण पवित्र हो, भाव उदात्त दयादि।
जग[२], तल पर अनुभूति के, उतरे तभी अनादि।।०३८०।।

श्रेष्ठ परिष्कृत भावना, अन्तःकरण विशाल।
परम सत्त्व अनुभूति में, आ तब करे निहाल।।०३८१।।

विकसित कर संसार में, एक-आत्म का बोध।
काम-शान्त[३] तब प्रेम में, परिवर्तित हो क्रोध।।०३८२।।

पर-छिद्रों पर चिन्तना, दे अवनति अपचार।
स्वात्म-चिन्तना मात्र है, उन्नति का आधार।।०३८३।।

भोगों को त्यागें, रखें, इन्द्रिय मन पर रोक।
करना आत्म-विचार दे, तब चिद्[४] का अवलोक।।०३८४।।

निर्मल आत्मा को बना, बन इन्द्रिय मन जीत।
दृष्टि गहन मधु-वाक् में, तब हो भाव पुनीत।।०३८५।।

---

१. पूत-पवित्र; २२ जग-जागकर; ३. काम-शान्त-कामना शान्त हों; ४. चिद्-ब्रह्म, आत्मा

बनना अपनी दृष्टि में, सुगुणी नीक विभास[१]।
खोल सफल का तब सके, द्वार आत्म-विश्वास।।०३८६।।

विभु ने दिया निसर्ग में, साझा अरु सहयोग।
है नर को यह चेत, दे!, नहिं बटोर, सम भोग।।०३८७।।

जनम पूर्व पश्चात् का, जब समझें क्या भेद।
स्वस्थिति इन्द्रिय-कर्म का, तभी शक्य सम्वेद[२]।।०३८८।।

जस नहिं प्रस्तर शैल को, बेधे कोई तीर।
नहिं तस मन सत्-ज्ञात को, दहल सके जग-भीर[३]।।०३८९।।

यदि तुम रखना चाहते, विभु से निश्छल भाव।
कपट न रखना कोउ से, क्योंकि विश्व तत्-छाँव[४]।।०३९०।।

उन्नत आत्मिक-शक्ति हो, कर, कर आत्म-विचार।
करे सृजित सुख-शान्ति दे, स्वाभिमान अविकार।।०३९१।।

हो जाता अपनी जिसे, आत्म-शक्ति का ज्ञान।
कार्यों में वह व्यर्थ के, जुड़े न दे अवधान[५]।।०३९२।।

नन्द आत्म-अनुभूति का, बरसे जीवन हर्ष।
परम लक्ष्य की पाव[६] दे, बने साध्य, उत्कर्ष।।०३९३।।

सुख सूरज की भाँति दे, सकै पाप से छूट।
सबल आत्म-बल रोक दे, भले विषय हों कूट[७]।।०३९४।।

---

१. विभास-सूर्य, देवता; २. सम्वेद-बोध; ३. भीर-कष्ट, भय; ४. छाँव-तद्रूप प्रतिमूर्ति; ५. अवधान-ध्यान; ६. पाव-प्राप्ति; ७.कूट-अचल

धन वैभव तो मात्र है, छल मिथु का अनुमान।
संयम सत्यादर्श हैं, न तु नर की पहिचान।।०३९५।।

शिक्षा लब्धि बलिष्ठता, सम्पद्, नहीं विकास।
वरन् सर्व-शिव शील[१] का, प्रकटन जीवन-भास।।०३९६।।

जग जन गण में कर्म दें, उत्तमता यश मान।
सो जड़ तृष्णा स्वार्थ की, काट करें अवसान।।०३९७।।

भौत द्रव्य नहिं, जीतना, मात्र हृदय, है जीत।
अशुभ काल न तु हो सदा, सम्मुख खड़ा प्रतीत।।०३९८।।

वह प्रस्थिति, जिसमें रहे, लेश सक्ति नहिं एष।
सच्चा सुख आनन्द है, वही शान्ति निश्शेष[२]।।०३९९।।

दैव प्रदाता शान्ति का, ज्यों विभु का उपहार।
हिय में भरे उदारता, पर-हित पर-उपकार।।०४००।।

धर्म धार ही पा सकें, सप्त लोक का सौख[३]।
सब अघ दुर्गुण सो तजें, मन से हों या मौख[४]।।०४०१।।

कठिन यदपि अतिभासता, धर्म न्याय अनुसार[५]।
अन्तः की पर तृप्ति का, मात्र यही अवचार[६]।।०४०२।।

जिसे न्याय अन्याय का, मान्य श्रेष्ठ का ज्ञान।
उसके कृत जागृत करें, सद्-जीवन का भान।।०४०३।।

---

१. शील-सत्स्वभाव; राग-द्वेष विहीनता; २. निश्शेष-पूर्ण, समूची; ३. सौख-सुख का भाव; ४. मौख-मुख से होने वाला; ५. अनुसार-अनुसरण; ६. अवचार-सड़क

सहज राज-पथ लक्ष्य के, सदाचार नति धर्म।
निश्चय ही जिनसे मिले, शान्ति सफलता शर्म[१]॥०४०४॥

करें, जलें दुष्वृत्तियाँ, नित्य साधना जोय।
उच्च अजेय समर्थता, विकसित उनमें होय॥०४०५॥

सकुचे अन्तः को करे, वशीभूत दुर्भाग।
उर-विशाल सौभाग्य में, पर अनन्य अनुराग॥०४०६॥

धैर्य क्षमा संयम दया, सत्य शान्ति निज-ज्ञान[२]।
जिस मन में थित हों रहे, वह भय बिना भवान्[३]॥०४०७॥

सबमें देखें स्वयम् को, करें प्रेम अभ्यास।
इससे मन-आनन्द को, मिले गाढ़[४] अधिवास[५]॥०४०८॥

दीप ज्योति में ज्यों रहे, अविचल नात-थिरत्व।
तस आश्रित अन्योन्य हैं, नैतिकता मनुजत्व॥०४०९॥

उर में प्रेम विराजता, जब हो[६] अगन[७] समान।
विभु इच्छा से भिन्न को[८], करता तभी विहान[९]॥०४१०॥

देख विवशता अन्य की, दुख दें, कर आधीन।
तजें स्वार्थ, अस डूबती, न तु हो आत्म[१०], मलीन॥०४११॥

भले तपी धारण करे, जटा रँगा परिधान।
असत् स्वार्थ रख एक भी, होता डोम समान॥०४१२॥

---

१. शर्म-सुख; २. निज-ज्ञान-आत्म-बोध; ३. भवान्- श्रीमान; ४. गाढ़-गाढ़ा; ५. अधिवास-निवास; ६. हो-होता है; ७. अगन-अग्नि; ८. विभु इच्छा से भिन्न को-जो इच्छा, ईश्वरीय इच्छा से भिन्न हो; ९. विहान-अन्त; १०. आत्म-आत्मा

विकसे नहीं उदारता, रहे उरस् पाषाण।
तब सूखे निज नन्द का, स्वयम् स्रोत-परिमाण॥०४१३॥

मान प्रतिष्ठा पा सकें, सद्‌गुण बन स्वाचार।
पर, पर-हाँ गौरव हरे, भरे आत्म-धिक्कार॥०४१४॥

चीकट कर लीं सीढ़ियाँ, स्वयम् चढ़ाकर मैल।
विस्मय अन[१]-छत का दिपे, तृण कूड़े का शैल॥०४१५॥

है जग बन्धन, चित्त हो, जब विषयों में सक्त।
किन्तु मुक्त, यदि भोगता, रहकर विरस विरक्त॥०४१६॥

तब तक विषयाकाश में, मन-खग भरे उड़ान।
जब तक उसे दबोचता, नहिं यथार्थ का ज्ञान॥०४१७॥

जिनके सज्जन ही रहें, चिन्तन क्रिया-कलाप।
रहे तोष उल्लास में, उन उर बिन अभिताप[२]॥०४१८॥

प्रचुर कौशलों युक्त हो, प्रखर बुद्धि-सामर्थ्य।
हो न सके प्रारब्ध भी, उसका वाम[३] अनर्थ्य[४]॥०४१९॥

लगे न्याय-निर्वाह का, कठिन धर्म का पन्थ।
भाव-तृप्ति सुख-आत्म दे, सहज यही पर कन्थ॥०४२०॥

कर्म कामना से किए, मात्र मनस्-सुख युक्त।
पर पर-हित में भावना, करती स्वको[५] प्रयुक्त॥०४२१॥

---

१. अन-अन्य, और, दूसरा; २. अभिताप-क्षोभ, पीड़ा;
३. वाम-विपरीत; ४. अनर्थ्य-अलाभकर; ५. स्वको-आत्मा को

कर निज गरिमा का सकें, रक्षण सद्-उपयोग।
उन पर उच्च विभूतियाँ, बरसे जन-सहयोग॥०४२२॥

प्राकृत[१] सम्यक् दृष्टि है, आत्मिक पन्थ-विधान।
विचलन थिति में भी करे, सम्बल धैर्य प्रदान॥०४२३॥

सदाचार आरूढ़ता, कुविचारों का त्याग।
सतत् धीर रखते, मिले, आत्म-ज्ञान की जाग[२]॥०४२४॥

अपनी अति लघु भूल भी, देखें करें सुधार।
समझे जीवन-साँच को, वे ही भली प्रकार॥०४२५॥

हो अनुभव उर-शुद्धि से, नित ध्रुव आत्म-स्वरूप।
आत्मा बन्धन मुक्त हो, जग-शुभ हेतु अनूप॥०४२६॥

जीवन के तम-ज्योति क्या, धी में जगा विवेक।
निश्चित उठें सुकर्म के, तब पग एक अनेक॥०४२७॥

जब थिति "मैं तो व्यष्टि हूँ", मन होता है स्वार्थ।
पर जब रूप समष्टि में, ब्रह्म बने परार्थ॥०४२८॥

अन्यों को निज ज्ञान से, जो दे सुपथ-उजास।
ऋषि है वह नर लोक में, विभु का है प्रतिभास॥०४२९॥

सेवा करुणा भाव से, पर-दुख करें समाप्त।
प्रभु प्रति रखे कृतज्ञता, जिससे प्राण-उराप्त[३]॥०४३०॥

---

१. प्राकृत-निर्दोष, स्वाभाविक; २. जाग-चेतना, जागृति;
३. उराप्त-उर+आप्त=उर प्राप्त=करुणा प्राप्त

रखे भाव-सर्वात्म का, भले विभेद अनेक।
अस समाजिक साम्य में, निज बलि दे प्रत्येक॥०४३१॥

चित्त-शुद्धि तप साधुता, स्वार्थ-त्याग का याग[१]।
निर्झर आत्मा-शक्ति को, अहम्कार परित्याग॥०४३२॥

पावें शान्ति प्रसन्नता, सुख, जिनसे जग-अंग।
वे सब तात्त्विक कर्म ही, होते धर्म-विषंग[२]॥०४३३॥

अवगुण मिटते भय मिटे, इषण मिटे से चिन्त।
तव स्व-रूप होने लगे, स्वतः प्रकट तब मिन्त॥०४३४॥

धर्म दया सा है नहीं, गुण नहिं सत्य समान।
नहीं क्षमा सी शूरता, आत्म-भान सा ज्ञान॥०४३५॥

खो दे षड्-अवगुण[३] बँधा, मन आत्मिक आनन्द।
भोग-जनक तन-एषणा, क्यों कि रहे स्वच्छन्द॥०४३६॥

सकल विश्व का ज्ञान है, न पर स्वयम् का ज्ञान।
उलझा रखता भोग में, अस नर का अवधान॥०४३७॥

स्वार्थ प्रलोभन भीति से, नर ले असत्-सहार।
हो आत्मा की शक्ति का, जिससे क्षय अपसार[४]॥०४३८॥

सोच अन्य की से बसा, ले, निज मन में हीन।
आत्म-चेतना कुण्ठ हो, अस में ईर्ष्या-लीन[५]॥०४३९॥

---

१. याग-यज्ञ; २. विषंग-संलग्न; ३. षड्-अवगुण-काम क्रोधादि;
४. अपसार-पलायन, भागना; ५. लीन-घुल जाना
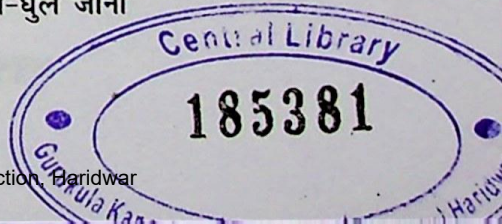
वे अपने पर[१]शेष हैं, जब हो यह अलगाव।
तब उर-धर्म अधर्म हो, जग को दे दुख-घाव॥०४४०॥

जो न आत्म[२]-कल्याण को, मानें जीवन-मर्म।
संग्रह भोगों में रखें, दृष्टि, समझकर धर्म॥०४४१॥

पा लूँ शीघ्र, उतावली, देती पाप अनीति।
लक्ष्य, चेत भटके, खड़ी, हों तब अन-गिन ईति[३]॥०४४२॥

करना पाकर प्रेरणा, सम्यक् सजग विचार।
दिव्य साध्य तब बन सकें, संयम श्रम व्यवहार॥०४४३॥

निर्धन दीनों में करे, खोल हाथ धन दान।
वणिक श्रेष्ठ है, जो रखे, पल पल प्रभु में ध्यान॥०४४४॥

विद्या ज्ञान-प्रकाश में, धन, देने में दान।
अबल रक्ष में बल लगे, वह जग-सूर[४] समान॥०४४५॥

मरने पर धन और का, तन हो तत्त्व विलीन।
सजग! कर्म निज, जीव को, तब दें ठौर नवीन॥०४४६॥

हृदय सरल जब लौं नहीं, बनता, छोड़ घमण्ड।
वञ्चित रहे अनन्द[५] से, पाव व्यथा दुख-दण्ड॥०४४७॥

गतिविधि की उपयोगिता, कितनी परख यथार्थ।
तब जीवन-उत्कृष्टता, पाती सहज परार्थ॥०४४८॥

---

१. पर-पराये; २. आत्म-आत्मा; ३. ईति-बाधा; उपद्रव; ४. सूर-सूर्य; ५. अनन्द-आनन्द

समझ दृष्टि पावन रहें, ऋद्धि तभी अनुकूल।
परजन परिजन स्वयम् को, बनें दुखद न तु शूल॥०४४९॥

काँटों बीच सुवास की, ले ही ले अलि थाह।
बुद्धिमान खोजे, करे, तस अन के गुण ग्राह[१]॥०४५०॥

भले किसी को हानि दे, लगता भले अनीक।
फिर भी चल आदर्श का, पग जो सर्व-सटीक[२]॥०४५१॥

कर सकता इक बार ही, दुष्कर को आवेश।
सतत् किन्तु आदर्श ही, रखते मनो-निवेश[३]॥०४५२॥

है अन्तः आनन्द ही, चिर शिवकर सौभाग[४]।
पर सत्-स्वामी नन्द का, धर्म-कर्म व त्याग॥०४५३॥

धर्मी चिन्ता से रहे, मद से शूर वियुक्त[५]।
पर ज्ञानी सन्देह से, रहे सर्वदा मुक्त॥०४५४॥

हो, बढ़ समझ समाज में, शुचिन भाव सञ्चार।
उदित प्रेम उर-शीलता, करे दया उद्गार॥०४५५॥

न्यारा[६] ईर्ष्या लोभ से, रह, तज कटु-वच क्रोध।
उर में धर्म प्रवेश, हो, तब ही, विभु-मैं[७], बोध॥०४५६॥

जीवन-भावी भी गिरा, देते बुरे विचार।
रखो सुजीवन हेतु सो, पावन भावाचार॥०४५७॥

---

१. ग्राह-ग्रहण कर; २. सटीक-बिल्कुल ठीक; ३. मनो-निवेश-मन लगाना; ४. सौभाग-सौभाग्य; ५. वियुक्त-रहित; ६. न्यारा-पृथक, दूर; ७. विभु-मैं-मैं ही भगवान हूँ

तन मन सत्-तट रे नहीं, जिन पर तेरा ध्यान।
वरन् मात्र विश्वास का, नित्य[१], सिद्ध[२], तट थान॥०४५८॥

चरित योग्यता साधना, निज-मति में विश्वास।
यही आत्मबल है सखे, विकस! सर्व जय-आस॥०४५९॥

पथ हैं मौलिक शक्ति हैं, करुणा सेवा प्रेम।
जीवन-सत् से दें मिला, बन जीवन-घर नेम[३]॥०४६०॥

अपनी अपने आप ही, कर अवलोकन जाँच।
रक्ष प्रगति तब कर सके, अपनी, पा निज साँच॥०४६१॥

पुरुष कर्म-अथ कर सके, रख सकता अविराम।
पूरा कर, विभु हाथ है, पर देना परिणाम॥०४६२॥

जस तन, तस विभुता नहीं, अमर अनश्वर नित्य।
सत्य यही दे कर्म को, सबसे रख साहित्य[४]॥०४६३॥

सामाजिक कल्याण की, सत्यम् शिवम् प्रतिज्ञ।
नर को विकसित कर सके, नारायण सा विज्ञ॥०४६४॥

मृत्यु-समय मन-भाव ही, रहे जीव का भाव।
तदनुसार धारण करे, नव मन देह बनाव॥०४६५॥

तन-इति पर, दृष्टा रहे, थिर जागृत चैतन्य।
यदि सद्-चिन्तन से रहे, आजीवन मन धन्य[५]॥०४६६॥

---

१. नित्य-आत्मा; २. सिद्ध-पवित्र; ३. नेम-नींव; ४. साहित्य-हित-युक्त होने का भाव; ५. धन्य-धनी; पुण्यात्मा

दुष्कर्मों को त्यागना, विकस सुगुण उर-धार।
जन्म-मरण के बन्ध का, मात्र यही निस्तार[१]॥०४६७॥

हो थित आत्मिक-चेत में, तज 'तन हूँ' का ज्ञान।
मिले, मुक्ति जग-बन्ध से, तभी परम दय-पान[२]॥०४६८॥

ईश्वर जीव निसर्ग[३] पर, नहिं कर सोच विचार।
कर स्वबोध तब खुल सकें, सकल सूझ के द्वार॥०४६९॥

जग से बन्धन तोड़ना, मन का है सत् ज्ञान।
इस छोटे से भाव में, बसते हैं भगवान्॥०४७०॥

जो जड़ जीव निसर्ग के, सच को लेता जान।
विचल न कर पाते उसे, राग द्वेष भव-मान[४]॥०४७१॥

जस नृप-प्रेयसि कर सके, नहीं भिक्षु से प्रीत।
दिव्यानन्दी जीव को, रहे न तस जग चीत[५]॥०४७२॥

मंगलकारी वृत्ति हैं, सर्व-श्रेष्ठ सब रीति[६]।
सहकर अपनी हानि भी, करना पर शिव प्रीति॥०४७३॥

श्रेष्ठ विचारों से लिया, जिनने मनस् सँवार।
हो आत्मिक, जग में जिएँ, जग को रख वे पार[७]॥०४७४॥

दीपक में घी, त्यों रहे, यदि नर में सद्ज्ञान।
रहे आप मय-लौ करे, औरों को द्युतिमान॥०४७५॥

---

१. निस्तार-छुटकारा देने वाला; २. पान-हाथ; ३. निसर्ग-प्रकृति;
४. मान-अहम्, प्रतिष्ठा; ५. चीतना-चाह; ६. रीति-प्रकार;
७. पार-परे, दूर

ऊँचे तल की ओर को, यात्रा युक्त विकास।
सो सुन अन्तर्नाद को, बरत उसे प्रति श्वास।।०४७६।।

आत्म लाभ पाया, किया, अपने को उत्कृष्ट।
जिसे ज्ञात, विद्वान है, निज जीवन का दिष्ट[१]।।०४७७।।

गहन पैठ कर खोज लें, जो तथ्यों की थाह।
उनको उनकी आत्म दे, जी यथार्थ, आवाह[२]।।०४७८।।

उत्तम विद्या ज्ञान से, अन्त: किया पवित्र।
जय दुर्गम को भी करें, जिनका ब्रह्म[३]-चरित्र।।०४७९।।

कर्म बुद्धि मन देह से, करें सक्ति का त्याग।
परिष्कार-हित आत्म के, उत्तम यही प्रयाग[४]।।०४८०।।

कल्प-विटप सम दायका, है जीवन अकलंक।
पंक दूर रहते, रखें, अस को प्रभु निज अंक।।०४८१।।

दुरित द्वेष दुर्भावना, जिसके उर नहिं लेश।
उसके कर्मों में बसें, बन चिर-सत् सर्वेश।।०४८२।।

बढ़कर उत्तम हीय सा, तीर्थ न कोई धाम।
देख सकें इसमें बसे, प्रभु को पर निष्काम[५]।।०४८३।।

कर्मशीलता त्यागना[६], सत्य अभय अस्तेय[७]।
भरें श्रेष्ठ आचार में, कर्तव्यों में श्रेय[८]।।०४८४।।

---

१. दिष्ट-उद्देश्य; २. आवाह-आमन्त्रण; ३. ब्रह्म-सर्व कल्याणकारी; ४. प्रयाग-यज्ञ; ५. निष्काम-सर्व कामना, आसक्ति रहित; ६. त्यागना-त्याग- भाव; ७. अस्तेय-चोरी न करना; ८. श्रेय-ईश्वर को जानने का उपाय, कल्याण, पुण्य

सहे आप ही कष्ट, दे, जीवों को सुख श्वास।
आत्म-ज्ञान पा, शान्ति का, हो थिर उस मन-वास।।०४८५।।

करता गहन विचार से, शुभ हो, तब अपनाय।
इह-जीवन से भी परे, शान्त नन्द चित्[१] पाय।।०४८६।।

गिरने पर ऊँचे उठें, पग उससे प्रतिबार।
पहुँचे लाग[२] अव्यर्थ ये, अवसि पूर्ण के द्वार।।०४८७।।

लोक सुमंगल-हित किये, साधन यत्न सुव्यक्ति।
आत्म-शुभम्, तप वस्तुतः, हैं प्रभु की ही भक्ति।।०४८८।।

शिल्पी अनुपम चारुता, दे नव रूप सँवार।
तस घड़ रे!, निज वृत्तियाँ, भाव विचाराचार।।०४८९।।

परमारथ के काम में, आये जो व्यवहार।
जीवन सत् की दीठ में, वह ही योग्य निहार[३]।।०४९०।।

आत्म रूप पहिचानता, जग नश्वरता ज्ञात।
जीवित यशः-शरीर से, युगों रहे अस ख्यात।।०४९१।।

आत्मा अज, तन देहरा[४], रखे प्रबल जो भाव।
वही पूर्ण अस्तित्व को, सुनियन्त्रित रख पाव।।०४९२।।

निपटाये लेकिन रहे, द्वन्द्वों प्रति निर्-भाव।
जो भी है में तृप्त ही, थिति[५] स्वरूप[६] में पाव।।०४९३।।

---

१. चित्-चेतना; २. लाग-लगन; धुन; ३. निहार-दृष्टि;
४. देहरा-मन्दिर; ५. थिति-निवास; ६. स्वरूप-आत्मा

जीवन सतत् सुकर्म

मैं किसका हूँ कौन हूँ, जिसने किया विचार।
आगम[1] ज्योतित सृष्टि का, जाना, क्या अँधियार॥०४९४॥

जन्मा कोउ स्वभाव से, नहिं उदार नहिं दुष्ट।
पर कुकर्म कर खल बने, महा, कर्म कर सुष्ट॥०४९५॥

कर अनुशीलन सत्य का, सींचे कर्म पवित्र।
स्वतः लब्धि निर्दोष हों, विभु भी जैसे मित्र॥०४९६॥

शिवमय आदर्शी बनें, जीवन-हिती अमन्द[2]।
है दय निज पर, जो करें, अस शुभ, दे शुभ नन्द॥०४९७॥

उत्तम सुख का मिल सके, सत् से ही व्यवहार।
मिथ्या छल अन्याय में, दुख हैं, इनें बिसार॥०४९८॥

अन को छोड़ निहारना, अपना मनस् निहार।
देते तब मन-दोष ही, सत्-पथ नवल सुधार॥०४९९॥

जस असि[3] मोल बखानते, धातु कड़ापन धार।
तस नर महिमा आँकते, उसके सद्-आचार॥०५००॥

जिसमें सद्गुण धर्म हैं, जग में वह जीवन्त।
नहीं सके नतु साध भी, स्वहित मृत्यु पर्यन्त॥०५०१॥

१. आगम-स्रोत; २. अमन्द-कुशल; ३. असि-तलवार

करता भरता स्वयम् ही, कर्म कर्म-फल जीव।
समझ करें सो कर्म, है, जीव मोक्ष की नीव॥०५०२॥

दे चलना सन्मार्ग का, नहिं झंझा दुख शोक।
यदि दे भी तो सह्य हो, नहिं जो हरे विरोक[1]॥०५०३॥

जो सद्-ज्ञान विवेक की, ऊर्जा प्रेरक-ज्योत।
मिले सदा सौभाग की, उसको कोत[2] उदोत[3]॥०५०४॥

विद्या दे, शिक्षा नहीं, जीव-बन्दि[4] से पार।
सो अलिन्द मधु-माँ बनें, गहें जगत् से सार॥०५०५॥

संयम श्रम दृढ़ आत्म-बल, त्याग तोष सत् राग्य[5]।
धन नहिं उच्च चरित्र से, जगता है सौभाग्य॥०५०६॥

मनुज अकेला ही जिए, दृढ़ हो यदि विश्वास।
डटा रहे चट्टान सा, तब नर साहस आस॥०५०७॥

स्वयम् समझते हो जिसे, है यह लक्ष्य महान।
करना कृत उस हेतु में, सत् सुख करे प्रदान॥०५०८॥

अवसर एक अलभ्य है, जीव हेतु नर-देह।
यत्न करें सो[6] पा सकें, अपन मूल सत्-गेह॥०५०९॥

श्वाँस श्वाँस के साथ में, आत्मा दे सन्देश।
मुझको जी निज कर्म में, मानवता मम्-वेश॥०५१०॥

---

१. विरोक-कान्ति; २. कोत-दिशा; ३. उदोत-उन्नति; ४. बन्दि-बन्धन;
५. राग्य-प्रेम करने योग्य; ६. सो-वे

जीवन को सत्-रूप दें, रख सौन्दर्य सजीव।
यह सुडौल ढाँचा रहे, बन मानव सुग्रीव[1]॥०५११॥

उपादान[2]-उन से करें, जीवन का श्रृंगार।
सुषम[3] बनाये जो रखें, इस जग के भी पार॥०५१२॥

प्राप परम-पद कर सके, केवल मनुज शरीर।
सो इस हेतु, परार्थ में, रख निज चित रत धीर[4]॥०५१३॥

दृष्टिकोण परमार्थ का, संस्कारित व्यक्तित्व।
सो सद्गुणमय मानवी, विकसें निज अस्तित्व॥०५१४॥

निश्छल स्वार्थविहीन हो, प्रेमपूर्ण व्यवहार।
उन्नति सुख अस पा सकें, नर समाज परिवार॥०५१५॥

जीवन में परमार्थ ही, केवल जिसका स्वार्थ।
दे जाता जन-चेतना, वह सुर, जीव-शिवार्थ॥०५१६॥

क्षमा धरा सी धारता, वृक्षों सा परमार्थ।
गौ समान दानी रहे, वह जीवन सुख-सार्थ[5]॥०५१७॥

झुलस न, बच द्वेषाँच से, तज वामन हंकार।
आकष[6] बड़पन का यही, जीत घृणा, कर प्यार॥०५१८॥

निकसे अरि, तो मित्र का, घर में शक्य निवेश[7]।
हो तस हटते ईर्ष्या, उर में सत्य प्रवेश॥०५१९॥

---

१. सुग्रीव-हंस; २. उपादान-कार्यरूप पाने वाले कारण;
३. सुषम-सुन्दर; ४. धीर-गम्भीर; ५. सार्थ-सार्थक;
६. आकष-कसौटी; ७. निवेश-पड़ाव; प्रवेश

गोचर हों व्यवहार में, गुण ही गुण ज्यों हंस।
जग-लोभों में भी रहे, जीवन वह शुभ शंस।।०५२०।।

सुख, बटोरने में बसे, समझ भरें कोठार।
विस्मय! खोजें भोग में, उरस् शान्ति-संसार।।०५२१।।

आकर्षण जड़-द्रव्य में, रखे खिन्न परिणाम।
है उपास्य जो सृष्टि का, चेतन-रूप सकाम[1]।।०५२२।।

विचलित जीवन लक्ष्य से, जग के करें प्रलोभ।
आत्म-ज्ञान पर कर सके, शान्त काम[2] विक्षोभ[3]।।०५२३।।

स्वात्मा को नहिं तोष दें, इन्द्रिय भोगाचार।
जैसे बुझे[4] न भूख को, चाटन[5] चटनि अचार।।०५२४।।

राग-द्वेष जिसमें नहीं, नहिं इन्द्रिय आसक्त।
जग सुख भी भोगे, रहे, पर आत्मिक-अनुरक्त[6]।।०५२५।।

सदाचार सत्-बोलना, शान्त-चित्त अक्रोध।
इन्द्रिय-शम व्यवहार को[7], मानो सुधा पयोध।।०५२६।।

स्वयम् कोइ बन्धन नहीं, नहिं जग माया जाल।
सब कुछ है दुर्भावना, मन भटकन, सो टाल[8]।।०५२७।।

देख आत्म-सौन्दर्य को, सत्-दृग से इक बार।
प्राणहन्त कितना दिपे, तब अघ का संसार।।०५२८।।

---

१. सकाम-प्रेमयुक्त; २. काम-कामना, कामुकता; ३. विक्षोभ-मन के उद्वेग; ४. बुझे-बुझाता है; ५. चाटन-चाटना; ६. अनुरक्त- प्रसन्न, सन्तुष्ट; ७. को-के लिये; ८. टाल-टालना

तन-विशालता में नहीं, बल निर्भय में होय।
करें द्रोह अन्याय से, विभु इच्छा भी सोय[१]॥०५२९॥

कर्ता ही शुभ कर्म का, रहता तुष्ट प्रसन्न।
किन्तु कदाचारी जिए, चिन्तित मनस् विपन्न[२]॥०५३०॥

निरत रहे कर्तव्य में, तज अधर्म के कर्म।
सदाचार-श्रद्धालु का, हर न सके जग, शर्म[३]॥०५३१॥

पाप बन्धनों मुक्त है, इषण लालसाहीन।
शील निरागी संयमी, सद्कृत ही विभुलीन॥०५३२॥

त्याग अभल छल, खोल ले, प्रीति मिलन के पन्थ।
जग-जलेश[४] में पा सके, तब निज सत्त्व अमन्थ[५]॥०५३३॥

सर्वोत्तम जो आप में, जग को दें वह बाँट।
तभी रहेंगे ये सदा, आत्मिक-गुण निष्काँट[६]॥०५३४॥

चल आदर्शों पर बने, आत्म-शक्ति निज भीम।
नर हो तब मानव महा, पा शिव पथ निस्सीम॥०५३५॥

सुख दुख में जिनकी रहे, मन प्रसन्नता खेद।
समझ कभी नहिं वे सकें, तन-आत्मा का भेद॥०५३६॥

शंस योग्य यश को नहीं, धावे यदपि समर्थ।
शोचनीय[७] धिक्कार है, किया जनम को व्यर्थ॥०५३७॥

---

१. सोय-वैसी; २. विपन्न-संकटग्रस्त; ३. शर्म-सुख; ४. जलेश-समुद्र; ५. अमंथ-अक्षोभ; ६. निष्काँट-निष्कण्टक; ७. शोचनीय-जिसे देखकर दुख, रञ्ज हो

सत्-सत्ता सर्वत्र की, दिखा सके जो भास।
मुक्ति ओर का पन्थ दे, विद्या वही विकास॥०५३८॥

चट्टानों के पेट को, चीर झरे जलधार।
सो लड़ बाधा से करें, उन्नति पथ तैयार॥०५३९॥

स्वाभिमान थिर-धीरता, भद्र बुद्धि-विस्तार।
चेतन संज्ञा ज्ञान को, रखों, टालते हार॥०५४०॥

जन-अभिप्रायों से जुड़ें, करते भला प्रयास।
तब पाते वे[1] स्वयम् भी, पर-सद्भाव समास[2]॥०५४१॥

सत्यनिष्ठ, पर चाहते, नहिं जो अरि का नास।
अपने ही बलिदान से, जग को दें अस हास[3]॥०५४२॥

अपने ज्ञान विचार का, मण्डल[4] ही निज वास।
जग[5]! जग को साहित्य को, सो पढ़, कर सत्भास[6]॥०५४३॥

अनालस्य सखि[7] शूरता, विद्या शील-स्वभाव।
हैं अक्षय निधि, हों नहिं, चोरी, सो पा धाव[8]॥०५४४॥

करने से उत्पन्न हो, करने का उत्साह।
अन्तः जागृत कर, हरे, जो जीवन दुख दाह॥०५४५॥

आत्म-शक्ति जब हीन[9] हो, मन रचता षड्यन्त्र।
कुटिल-अहम् फन मारता, सन्तत बन तब तन्त्र[10]॥०५४६॥

---

१. वे-नर; २. समास-समर्थन; ३. हास-विकास; ४. मण्डल-घेरा;
५. जग-जागकर; ६. भास-आभास;७. सखि-मित्र; ८. धाव-दौड़कर;
९. हीन-अधम, नीच; १०. तन्त्र-नीति

आवश्यकतायुक्त को, देना जिसे सुहाय।
विभु, कर्मों के रूप में, उसमें अवसि समाय॥०५४७॥

चढ़ विकास की सीढ़ियाँ, देव सरिस बन भव्य।
जो चाहे सो पा सके, संयममय कर्तव्य॥०५४८॥

संस्कृत संयम से बने, समझ सभ्यता क्रीत[१]।
जस अनुशासन से जनें, तार-दिव्य संगीत॥०५४९॥

निर्मल संशयहीन है, उर, यथार्थ से विज्ञ।
विषय वासना से परे, अस में, ब्रह्म-प्रतिज्ञ॥०५५०॥

करना दान दयालुता, तोष सत्य-आचार।
अनुशय संयम नम्रता, परम-धाम के द्वार॥०५५१॥

जितना कर पुरुषार्थ से, सकें आत्म-प्रायत्व[२]।
दे अभीष्ट को साधना, उतना सुफलित सत्व॥०५५२॥

श्रम कठोर, विभु में रहे, एक-निष्ठ विश्वास।
अवसि पूर्ण प्रत्येक हो, ऐसे की अभिलास॥०५५३॥

एक हाथ में श्रेय है, दूजे में पुरुषार्थ।
किन्तु श्रेय पुरुषार्थ के, रहे साथ ही सार्थ॥०५५४॥

अर्जन में उत्साह से, कर्मठ हो पुरुषार्थ।
प्रखर प्रवणता[३] कर्म की, तब दे उन्नति सार्थ॥०५५५॥

---

१. क्रीत-कीर्ति, यश; २. प्रायत्व-पवित्रता;
३. प्रवणता-झुकाव, प्रवृत्ति।

अर्जन श्रम सत् से किया, माँ-पय सरिस पवित्र।
मन को दे थिर स्वस्थता, पोषे करुण चरित्र॥०५५६॥

उर को दुख निर्मल करे, श्रम मानवता धार।
मात्र करें संसार में, दुख श्रम से सो प्यार॥०५५७॥

रुचिर[1]-लगे विश्वास को, ग्रसना[2] नहिं पर्याप्त।
वरन् चिन्तना कर्म में, रखें सतत् सम्व्याप्त॥०५५८॥

सबसे बड़ कर्तव्य है, रखना पवित विचार।
कर्तव्यों को मान दे, पर विचार-संस्कार[3]॥०५५९॥

रखती बुद्धि विचार की, दृष्टि लघुक विस्तार।
मात्र भाव दुर्बोध का, खोल सकें सत्-सार॥०५६०॥

बन पारंगत, बुद्धि को, सत्कर्मों में ढाल।
लक्ष्य पूर्णता का मिले, तब हो[4] मनुज मराल॥०५६१॥

रखें कार्य-निर्धार में, निज विवेक आधार।
बढ़े आत्म-बल से, हटें, तब चित से सब भार॥०५६२॥

जो विचार की दृष्टि से, निरखें यह संसार।
अंश ईश तन का दिपे, उनें अकार अकार[5]॥०५६३॥

कर देखें गम्भीर हो, क्या है धर्म, विचार।
तभी चित्त-विभु जीव से, कहे, धर्म है प्यार॥०५६४॥

१.रुचिर-मनोहर, अच्छा; २. ग्रसना-दबाकर पकड़ना; ३. संस्कार-परिष्कार, सुधार; ४. हो-होकर; ५. अकार अकार-प्रत्येक आकार

वह इक शस्य[१] मनुष्य है, रखता न्याय विवेक।
पर सत्-प्रेम-उदारता, देव बना दे एक॥०५६५॥

शीश धरे अच्छाइयाँ, रखे पद तले दोष।
दूर-दृष्टि कल पर रहे, जीवन यही सतोष॥०५६६॥

तन-फड़कन या श्वाँस तो, जीवित है का भर्म।
सुख दें सबको अन्यथा, जीवन वे सदकर्म॥०५६७॥

मूर्त-वस्तु छाया जने, धुआँ, सुलग दे आग।
तस सुख दुख उत्पन्न हों, निज कर्मों से जाग!॥०५६८॥

किसी कर्म से हो सके, मिले नहीं आनन्द।
पर अवश्य कर्तव्य दे, सतत् नन्द विस्पन्द[२]॥०५६९॥

है भटकन दुख दीनता, मात्र भाग्य-विश्वास।
पर कर नीक सुकर्म, दे, जीवन जीवन-आस॥०५७०॥

पा विचार सत्कर्म को, बनते हैं आनन्द।
प्राणी रक्षा पुष्टि में, सो विलोक क्या फन्द[३]॥०५७१॥

मनोयोग को कर्म के, कर दें साथ घनिष्ठ।
जीवन लोक-अलोक में, बनते वही वरिष्ठ[४]॥०५७२॥

जितना रखें विभूतियाँ, अन्तः गुण परिमाण।
उतने उरु[५] हों कर्म में, उन्नति क्षमता त्राण॥०५७३॥

---

१. शस्य-प्रशंसनीय; २. विस्पन्द-विस्फुरण हिलोर; ३. फन्द-रहस्य; मर्म; ४. वरिष्ठ-पूजनीय; ५. उरु-श्रेष्ठ, महान, विशाल, विस्तृत

क्लेश क्षीण होते मिले, जनम-मरण से मोख[1]।
पर कर मनन! स्वकर्म है, सर्व-क्लेश की कोख॥०५७४॥

पुण्य नहीं है माँगना, स्वयम् हेतु अधिकार।
वरन् प्राणि-हित कर्म का, पालन जीवन सार॥०५७५॥

पक्ष-रहित उर-बोल के, रख निज वाद-विवाद।
मित्र सिद्ध हों, सत्य का, क्योंकि रचें प्रासाद॥०५७६॥

कर, रख शुभ की भावना, कृत जो तेरे हाथ।
नियति सर्वशुभ हेतु ही, है रत, सो दे साथ॥०५७७॥

सर्वोपरि है, साध्य है, निज सत्-घर का वाह[2]।
यह स्वकर्म है, सो रखें, इसे पवित्र अदाह॥०५७८॥

कथन नहीं चित-साँच को, व्यक्त करे आचार।
अतः स्वपन में भी रखें, पर-भल हेतु विचार॥०५७९॥

भव-बन्धन दुष्कर्म हैं, तरना भव सद्कर्म।
सो पर-हित उर-धर करी, करनी, जीवन मर्म॥०५८०॥

आत्मशोध कर पा लिए, सद्गुण सद्व्यवहार।
यह शुचि सार्थ, समीप के, उर, यदि पाव सुधार॥०५८१॥

ढाँचे में आदर्श के, जीवन बने पवित्र।
चित बन तेज-स्वभाव, हो, विभु सा मित्र अरित्र[3]॥०५८२॥

---

१. मोख-मोक्ष; २. वाह-वाहन; ३. अरित्र-आगे बढ़ाने वाला

ईश्वर की समरूप से, रहती सब पर दीठ।
कर्म अछल अपनत्व के, रख स्वर सो सत् मीठ[१]॥०५८३॥

आस्थाओं की उच्चता, सत्कर्मों का तन्त्र।
दूरदर्शिता चिन्तना, रख निज भाव अमन्त्र[२]॥०५८४॥

निज कर्मों की छोड़ना, जग में अस थिर छाप।
लख जिनको निज ढूँढ लें, सुपथ पीढ़ियाँ आप॥०५८५॥

सद्कर्मी 'ही' से मिले, जो साँचा आनन्द।
विकसे अन्तः वृत्तियाँ, यही नन्द तब वन्द[३]॥०५८६॥

सबकी सम अनुभूतियाँ, मिले दमन या प्यार।
सो जो प्रिय तुझको, वही, कर सबसे व्यवहार॥०५८७॥

अनुशय दुख भय पीड़ दें, कभी न कर अस काम।
पर कर वह जो दे सकें, आत्मिक-सुख अविराम॥०५८८॥

उसके सम्मुख खोलता, जीवन निज मुस्कान।
सत्कर्मों से जो रहे, पाकर जय उत्थान॥०५८९॥

'वर्तमान' पल है वही, जिसे जी रहे आप।
सुख-लोभी! कर सो भला, पल पल क्रिया-कलाप॥०५९०॥

है गुण कर्म स्वभाव की, उत्तमता ही स्वर्ग।
सो यह आत्मिक-सम्पदा, बढ़[४]! दे सत्य विसर्ग[५]॥०५९१॥

---

१. मीठ-मीठा, प्रिय; २. अमन्त्र-निर्-अपराधी; ३. वन्द-वर्न्दनीय;
४. बढ़-बढ़ा; ५. विसर्ग-मोक्ष

प्रतिबन्धों का सर्वदा, कर सम्यक् सम्मान।
यही नीति व्यक्तित्व में, पग-पग दे उत्थान॥०५९२॥

जीवन में नहिं भूलना, कर पालन कर्तव्य।
मृत्यु कभी भी आ सके, सो पल व्यय, कर नव्य[१]॥०५९३॥

भौत स्वार्थ, हंकारता, है नहिं सुख का धर्म।
मानव का कर्तव्य है, करना मात्र सुकर्म॥०५९४॥

जीवन-यापन में बने, मानवता व्यवहार।
तब मर्यादा धर्म की, लेती हैं आकार॥०५९५॥

जग में रह देवत्व की, रक्षा सा नहिं धर्म।
उस सा नहिं कर्तव्य भी, अतः बना निज कर्म॥०५९६॥

गान बजाना माँगना, करे भिक्षु इक साथ।
तस कर्तव्य निबाहना, प्रतिपल सुमिर स्वनाथ[२]॥०५९७॥

जिनने निष्ठा बाँध ली, कर्तव्यों के साथ।
नहीं पराजित कर सकें, संकट भी उन हाथ॥०५९८॥

अपढ़ भले, पर कर्म हैं, नीति धर्म अनुकूल।
वह सत् अनुयायी सदा, जीता सौख्य विशूल॥०५९९॥

पाप ओर मन ना झुके, सधें दिव्य उर लीख[३]।
विश्व प्रेम कर्तव्य का, चुन पथ, चलना सीख॥०६००॥

---

१. नव्य-स्तुत्य; २. स्वनाथ-अपने प्रभु, इष्ट; ३. लीख-मर्यादा

मन का ढाँचा ढालते, जो अपना शालीन।
पाते सजन[१] समर्थ से, मान सहाय अहीन[२]॥०६०१॥

ईर्ष्य न पर-उत्कर्ष से, निज थिति में सन्तोष।
सहनशीलता उर बसे, जीवन वह सुख-कोष॥०६०२॥

बनती दया अशक्त को, कोमल मृदु संसार।
करती किन्तु सशक्त में, उन्नति का सञ्चार॥०६०३॥

निज स्वभाव से ही बने, जग प्रतिपक्षी मित्र।
मधुर प्रेम अपनत्व का, सो बन उरस् पवित्र॥०६०४॥

नम्र द्रवी जिह्वा रहे, इन्द्रिय ललक, अराग।
सरल वृत्ति मंगलकरा, रचे शान्त-पद[३] भाग[४]॥०६०५॥

धर्म सनातन सृष्टि का, प्रेम सहायन छोह[५]।
अत: वचन मन कर्म से, न कर जीव पर द्रोह[६]॥०६०६॥

प्रेम और श्रम साथ हों, तब भू-ही सुर धाम।
पृथक रहें अचला[७] बने, तब यमपुर सी ताम[८]॥०६०७॥

वन्दन कर उस ज्ञान का, देता जो सत्-बोध।
प्रेम, जीव प्रत्येक से, कर, बिन द्वेष विरोध॥०६०८॥

लगता मीठा मर्म[९] को, प्रेम-पूर्ण व्यवहार।
सबको दें, पर दें नहीं, मिष्ट-छली हति[१०]हार[११]॥०६०९॥

---

१. सजन-सज्जन; २. अहीन-बहुत अधिक; ३. शान्त-पद-निर्वाण; ४. भाग-भाग्य; ५. छोह-दया; ६. द्रोह-हिंसा; ७. अचला-पृथ्वी; ८. ताम-भय का कारण; ९. मर्म-हृदय; १०. हति-आघात; ११. हार-हानि

सर्वाधिक सत् प्रेम की, जग में जीवन-शक्ति।
साथ दोउ तब दे सकें, अजय, प्रपञ्च न सक्ति॥०६१०॥

करे प्यार प्रत्येक से, रखता तनि में तोष।
मात्र भला ही सोचता, दुर्लभ उसे न मोष[१]॥०६११॥

निराशाओं को छाँटती, कितनी भले असीम।
आत्मा का ही रूप है, प्रेमशक्ति सो भीम॥०६१२॥

प्रकट प्रेम के रूप में, उर में हो भगवान्।
शुभ-विचार मन-विज्ञ में, पर हों प्रभु विदमान॥०६१३॥

प्रेम त्याग सेवा भरें, उर में सन्तत नन्द।
अन्यों से भी प्रेम के, विकसें बन्ध अद्वन्द॥०६१४॥

सदाचार का पन्थ है, सबके सुख का मूल।
पर सुख ढूँढ कुकाम में, दें सब, सबको शूल॥०६१५॥

काट तपा घिस पीटना, परख कनक की चार।
न्याय शील गुण धर्म से, तस कस[२] नर व्यवहार॥०६१६॥

गहन चोट अनुभव करे, जब भी हो अन्याय।
पर सत्-पुँस न धर्म से, निज पग लेश डिगाय॥०६१७॥

लख[३] जग गति गम्भीर है, असत्-चाल[४] दे नास।
सत्य, सहजता से करे, पर परिपोष विकास॥०६१८॥

---

१. मोष-मोक्ष; २. कस-परीक्षा कर; ३. लख-समझ;
४. चाल-आचरण

मात्र बुद्धि से जानना, सत् को नहिं पर्याप्त।
वरन् मनुज सत् को करे, तन[१] मन[२] वच[३] में प्राप्त॥०६१९॥

सतत् सत्य का पालना, रख, रख भाव विराग।
परम लक्ष्य तब सत्य का, दे विवेक, बन याग[४]॥०६२०॥

पहुँचें नहिं पगडण्डियाँ, उस तक जो गन्तव्य।
यह जीवन को दृष्टि दे, सदाचार द्रष्टव्य[५]॥०६२१॥

गहना समुचित, त्यागना, अनुचित, निधि अनमोल।
सुख-हित कर्म-विचार की, सों रख सत् की ओल[६]॥०६२२॥

जिन कर्मों से हो सके, प्राणि-मात्र उत्फुल्ल।
अपना, मानव-धर्म हैं, देवी चरित अतुल्ल[७]॥०६२३॥

घिस जाये देता रहे, सन्दल किन्तु सुवास।
तस दुख कितने भी पड़ें, कर पर-भला उजास॥०६२४॥

ध्यान न दें, कर क्या रहे, वे, उन क्या परिणाम।
पावन उर रखते हुए, मात्र करें निज काम॥०६२५॥

दें अपने गुण-न्यून को, भूधर[८] सा विस्तार।
तब उर धर लें, जो बने, पुण्य सुधा उपकार॥०६२६॥

सत्मन[९], पक्का बात का, करनी करे उदार।
उसका लब्ध-प्रतिष्ठ हो, स्वाभिमान सहचार[१०]॥०६२७॥

---

१. तन-कर्म; २. मन-भाव विचार; ३. वच-वचन; ४. याग-लोकहित के विचार से की गई पूजा; ५. द्रष्टव्य-विचारणीय; ६. ओल-आश्रय, गोद; ७. अतुल्ल-अतुलनीय; ८. भूधर-पहाड़; ९. सत्मन-ईमानदार; १०. सहचार-सत्पथ

सत्य निडरता को रखे, अपने साथ सदैव।
सदाचार सो जी, रहे, जो निर्द्वन्द्व तथैव[1]॥०६२८॥

अनुचित तनिक न बोलते, रहें सत्य की ढाल।
ज्ञान सद्गुणी ही रखें, जीवन पाव निहाल॥०६२९॥

अविचल रह रक्षा करे, है यह दिव्य विधान।
नर को नहिं, मिलता सदा, सद्गुण को सम्मान॥०६३०॥

परिलक्षित व्यवहार में, हो मन का संसार।
सुखदा-सुगुणों से रचें, सो अन्तः आधार॥०६३१॥

अन्तस् के गुण धर्म का, जिसे सिद्ध हो बोध।
उसकी दृष्टि अकाट्य हो, कर्मानन्द पयोध॥०६३२॥

भौत जगत्, धन पर नहीं, दे सुगुणों पर ध्यान।
वह जीवन की सत्यता, ले अवश्य पहिचान॥०६३३॥

सत्-मनता ही सर्वदा, है सर्वोत्तम नीति।
नहिं कोई अनमोल है, इस सा नर-गुण रीति॥०६३४॥

सद् मन वचन उदारता, जग-हित क्षमा सुकर्म।
मात्र एक साधें, सधें, तब सब मानव धर्म॥०६३५॥

धर्म आस्थारत, रहें, सदाचार शुभ-कर्म।
मानव गरिमा को रखें, अक्षय, अस पा शर्म[2]॥०६३६॥

---

१. तथैव-उसी प्रकार; २. शर्म-सुख

मधु, जीवन को दे बना, आदर से संयुक्त।
सत्य न्याय आभार में, जिह्वा हो यदि मुक्त॥०६३७॥

मनुज वस्तुतः, हैं भले, जिसके कर्म-विचार।
भक्त मुक्त-जीवन वही, जग दे उसे दुलार॥०६३८॥

कुञ्जी सकल विकास की, होना चित सत्निष्ठ।
तब उर-सत् नर को करे, लोक अलोक[1] प्रतिष्ठ॥०६३९॥

पवित हृदय से भोगता, दैव गुणों अनुसार।
वशवर्ती हो इन्दियाँ, उसे स्वर्ग संसार॥०६४०॥

नद सी रखे उदारता, सूरज सी द्युति शील।
अचला सरिस सहिष्णु, हो, ईश-शोभ से श्रील[2]॥०६४१॥

सद्गुण अन्यों में भरे, निज कर्मो से, धन्य।
आस थकों में दे जगा, विभु सम बनता गण्य[3]॥०६४२॥

प्रेरण सत्याचार का, दें जिनके व्यवहार।
जग उनके जीवित रखे, युग युग कर्म विचार॥०६४३॥

सहज सीढ़ियाँ हैं चढ़ें, मंगल कर्म विचार।
श्रेष्ठ समुन्नति में रमे, तब अन्तः संसार॥०६४४॥

दान गुप्त रखते, करें, अभ्यागत[4] सत्कार।
उत्तम, नहिं गर्वी बनें, पाकर पर-उपकार॥०६४५॥

---

१. अलोक-आध्यात्मिक जगत्; २. श्रील-शोभायुक्त; ३. गण्य-गणनीय, सम्मानित; ४. अभ्यागत-अतिथि

धड़के हिय पग काँपते, करने पर अपचार।
इंगित यह प्रभु कर रहे, जीवन पर-उपकार॥०६४६॥

सुख देने देता नहीं, अपने सुख का राग।
सुख देना यदि चाहता, तब कर निज सुख त्याग॥०६४७॥

आश्रय देता पोषता, बच्चों को खग-कर्म।
कृत यह कहे अशक्त का, रे बन सह सुख-सर्म[1]॥०६४८॥

धरती के सौन्दर्य का, स्रोत, त्याग उपकार।
दय सेवा को, स्वार्थ-की, करती ज्वल नतु क्षार[2]॥०६४९॥

मात्र भला बन, पा सके, अपने हिय सन्तोष।
पर कर अस कुछ जो कहे, जग भी भला विदोष[3]॥०६५०॥

है नैतिक मन-कामना, स्वयम् हेतु उपहार।
पर जन-जीवन की बने, उससे अधिक सहार॥०६५१॥

करते समय सहायता, मिलता दैवी तोष।
यह विभु इंगित है, करें, पर-हित सेवा पोष॥०६५२॥

शक्ति प्रचण्ड मनुष्य को, दे आदर्शाचार।
जग श्रद्धा सहयोग हो, सो उस प्रति बलिहार॥०६५३॥

सबसे श्रेष्ठ उपासना, करना पर-उपकार।
है भलाई ही वस्तुतः, प्रकट ईश निरकार॥०६५४॥

---

१. सर्म-स्वर्ग; २. क्षार-राख; ३. विदोष-दोष-रहित

कर अर्पण अस ध्येय को, जीवन का उपयोग।
जो मानव उत्कर्ष में, बने सदा सहयोग॥०६५५॥

जिसका पथ कल्याण का, दुर्गति कभी न होय।
करें द्रोह अन्याय से, विभु इच्छा भी सोय[१]॥०६५६॥

सबके शिवकर की सदा, रक्षा, उत्तम धर्म।
अपना लें, इससे नहीं, बड़ कर्तव्य सुकर्म॥०६५७॥

मिलता सुख सत्-मिन्त से, सेवा से अपवर्ग[२]।
दृढ़ धर्मी ही पा सके, इस जग में भी भर्ग[३]॥०६५८॥

निज विद्या धन शक्ति से, अन के बनें सहाय।
वे धरती के देव हैं, मानवता पर्याय॥०६५९॥

त्याग, दान, उपकार में, किया गया उत्सर्ग।
जीवन को ही अन्ततः, करता भर्ग-निसर्ग[४]॥०६६०॥

सेवा नर को दे बना, जन-प्रिय यशी महान।
दास बना जो बर्तता, पर वह बने प्रधान[५]॥०६६१॥

तन सुन्दरता, भोग का, आकर्षण है मोह।
आत्मिक गुण प्रति कर्षणा, किन्तु प्रेम शुचि छोह[६]॥०६६२॥

जब उर शुचिता, आ बसें, श्रद्धा प्रेम प्रशान्ति।
दर्शन देने आ रही, समझ, शीघ्र विभु कान्ति॥०६६३॥

---

१. सोय-वैसी; २. अपवर्ग-स्वर्ग; ३. भर्ग-तेज; ज्योति; ४. निसर्ग-दान; ५. प्रधान-मुख्य सहयोग देने वाला; ६. छोह-स्नेह

सज्जन बनें, उदारता, धर मर्यादा धीर।
जीवन जीता है तभी, उपयोगी गम्भीर॥०६६४॥

पावनता उर-धर्म की, जीव मात्र से प्रेम।
विरति जगत् आसक्ति से, है विमुक्ति का नेम[१]॥०६६५॥

जन समाज अभिजात में, ज्ञानी पावे मान।
सबके अन्तः आ बसे, पर, उदार कृतवान॥०६६६॥

अन्तः को जैसा गढ़ा, वाह्य गढ़े तद्रूप।
गतिविधियाँ निश्चित करें, तब सुख दुख का रूप॥०६६७॥

जितनी आत्म-पवित्रता, होती रहे समृद्ध।
उतनी दिशा सुपन्थ की, जग भी पा हो ऋद्ध[२]॥०६६८॥

पर-दुख कातरता जगा, है यह प्रेम प्रतीक।
शुद्ध श्रद्ध यह ईश में, विकसे, आत्मा नीक॥०६६९॥

मात्र मनुज की सम्पदा, जीवन सजन[३] उदार।
निज-विशिष्ट को क्योंकि दे, यह उभार व्यवहार॥०६७०॥

निज राई सा दोष भी, दिपता जिसे पहाड़।
बढ़ उर निर्मलता, उसे, दे, विभु दर्श सुबाड़[४]॥०६७१॥

पार करे भव-सिन्धु से, आत्मा को तन-नाव।
स्वस्थ सुमन सो सर्वदा, रख निज तन का भाव[५]॥०६७२॥

---

१. नेम-नींव, आधार; २. ऋद्ध-प्रसन्न होना; ३. सजन-सज्जन;
४. सुबाड़-अच्छी सुरक्षा; ५. भाव-अवस्था, दशा

उच्च वृत्तियों में रखें, टिका स्वयम् का ध्यान।
अस नर अवसि समाज को, हितकर करें प्रदान।।०६७३।।

अन्तस में है स्वयम् के, श्रेष्ठ स्वर्ग से, धाम।
पर[१] विषयों में खोजता, विस्मय! नर अविराम।।०६७४।।

किसी वस्तु में है नहीं, वैभव से नहिं लभ्य।
मन थिति है सुख, पा सकें, आत्म-ज्ञान से सभ्य[२]।।०६७५।।

सभी परस्पर भिन्न हैं, ईश्वर से भी भिन्न।
रखे धारणा, सो रहे, दुखी दीन-मन खिन्न।।०६७६।।

मृदा-भरी जस डूबती, तुम्बी ढोकर भार।
आत्मा को ढक, दें उसे, तस अवनति व्यभिचार[३]।।०६७७।।

प्रतिपल जिसकी चाह में, बसे आत्म-कल्याण।
आत्म-गूढ़[४] समझे, उसे, मिले पूर्ण तब त्राण।।०६७८।।

अनुशय कर दुष्कर्म के, हट अघ, सद् आचार!।
स्वतः ज्ञान हो, दीठ में, विभु हों, सर्वाकार।।०६७९।।

स्वात्मा को विकसित करें, पर-शिव-हित उपकार।
रख अविरत सो भावना, कर्म उसी अनुसार।।०६८०।।

पूर्ण सुधामय हो सके, जीवन, यदि अभिलास।
आत्मा को जानें, बनें, तब जग सेवा-दास।।०६८१।।

---

१. पर-परन्तु; २. सभ्य-विश्वास वाले; ३. व्यभिचार-पाप; दुष्कर्म; ४. आत्म-गूढ़-आत्मा की गूढ़ता या रहस्य को

बना सका जो स्वयम् का, अन्तस पवित उदार।
सबसे बड़ संसार का, करता वह उपकार॥०६८२॥

जब कठिनाई शोक से, 'जी'[१] हो निहत विदीर्ण।
तब पथ विभु-विश्वास दे, रहने न दे प्रकीर्ण[२]॥०६८३॥

ईश्वर को उर में रखें, तब करते पुरुषार्थ।
उनसे हट दुख दीनता, वैभव करे कृतार्थ॥०६८४॥

आत्मा को जानें सुनें, उस पर करें विचार।
कुछ भी छिपा न रह सके, उनसे या संसार॥०६८५॥

जीव जगत् में देखता, निज आत्मा ही व्याप्त।
शोक मोह सब स्वार्थ हों, उसमें पूर्ण समाप्त॥०६८६॥

ईश ज्ञान अनुभूति से, खुलें स्वतः उर गाँठ।
पाप मिटें, संशय हटें, हो विभु में नर साँठ[३]॥०६८७॥

आत्म-दृष्टि[४] में भक्ति है, सत्-सेवा उत्कृष्ट।
जीव-रूप, विभु क्योंकि हों, सम्मुख सेवित सृष्ट॥०६८८॥

हो अनुभव विभु आत्म का, जब सत्-तेज प्रताप।
तब सुख आते स्वयम् ही, जस नद सिन्धु मिलाप॥०६८९॥

सखा सहायक सर्वदा, सर्वोत्तम सर्वेश।
कर्म-श्रेष्ठ की चेत दें, उर विश्वास प्रवेश॥०६९०॥

---

१. जी-चित; २. प्रकीर्ण-क्षुब्ध; ३. साँठ-योग, जोड़, मेल;
४. आत्म-दृष्टि-आत्मा की दृष्टि

तज दे तन को देखना, ले अनन्त को जान।
तभी समष्टि अनन्त का, दिपती, प्रकट[१] वितान[२]॥०६९१॥

पर हित में, बच स्वार्थ से, करें स्वयम् को नष्ट।
पाते अस सुख की शिखा, रह असक्त बिन कष्ट॥०६९२॥

सब जीवों में एक ही, है आत्मा विदमान।
हिन्सक हन्ता सो न हो, विभु सा बन दय-वान॥०६९३॥

सम्पद् तन-मऩ-आत्म की, स्रष्टा का उपहार।
सो नितकर प्रत्येक से, शुभ पोषक व्यवहार॥०६९४॥

इक इक के छल पाप से, सब में हो दुख व्याप्त।
सो जीना सद्कर्म ही, सहज सुगम बिन-ताप्त[३]॥०६९५॥

निकलें यदि अस चाहते, अन्तः बैर विरोध।
करें सुसज्जित ऐक्य के, भावों से मन-शोध[४]॥०६९६॥

कष्टपूर्ण चाहे भले, अपना, किन्तु यथार्थ।
बहना भावावेश में, परिणत हो वामार्थ[५]॥०६९७॥

चिर-मूल्यों की भूमि से, उगें शान्ति के बीज।
मूल्यों को जी, बावरे, सो तज सब जग-खीज[६]॥०६९८॥

यदि सब दोषों से रखें, अपने मन को मुक्त।
स्वतः सर्व, विभु प्रेम भी, तब हो, तव संयुक्त॥०६९९॥

---

१. प्रकट-प्रत्यक्ष; २. वितान-विस्तार; ३. बिन ताप्त-बिन पीड़ा का; ४. शोध-शुद्धि; ५. वामार्थ-दुर्भाग्य हेतु; ६. खीज-कुढ़न

आत्मा, जिसने पा लिया, निज में छिपा प्रकास।
जली दारु[1] सम दे सके, अन को भी वह भास॥०७००॥

निज कर्मों की वाटिका, शुभ कर्मों से साज।
पुष्पित हों मनु-धर्म के, जो प्रसून कल आज॥०७०१॥

शिव-सम्पादन कर्म में, उरस् आत्म-विश्वास।
शंसित रहें समाज में, वैभव उनका दास॥०७०२॥

उज्ज्वल स्वयम्-स्वरूप का, हो जब नर को ज्ञान।
वह आनन्द विभोर हो, पाव दिव्य गुण खान॥०७०३॥

भले प्राण अपने फँसें, किन्तु बचा पर प्रान।
समझ! एक जीवन जना, कर माँ सा बलिदान॥०७०४॥

राग विषय प्रवृत्ति है, द्वेष, विरत[2] दे भाव।
विरति निवृत्ति प्रवृत्ति से, पर विभु में थिति पाव॥०७०५॥

यथा-योग्य आदर दिया, किया हर्ष विस्तार।
अर्थ सफलता का, रखी, जीवन-दृष्टि उदार॥०७०६॥

जग-भर सुख-भोगी बना, तू तो बन सुख-दात[3]।
तभी जगत्-कल्याण की, देगी किरण, प्रभात॥०७०७॥

लज्जा विद्या शीलता, सत्य नम्रता प्रेम।
मात्र वही सुन्दर, रखे, सदाचार का नेम[4]॥०७०८॥

---

१. दारु-लकड़ी; २. विरत-निवृत्ति, हटाव; ३. दात-देने वाला; ४. नेम-नियम, नींव

जिसके होते पा सकें, प्राण त्राण नर जीव।
ढोते जीवन अन्य हैं, रहे वही सञ्जीव[१]॥०७०९॥

शुद्ध कर लिये स्वयम् के, वाणी कर्म विचार।
उस सद्‌मति ने पा लिए, इह पर जग उद्धार॥०७१०॥

दृष्टिकोण दय-वान हो, निर्मल हो कर्तृत्व।
आत्मा के प्रत्यक्ष में, जीता वह व्यक्तित्व॥०७११॥

नहिं विषयों से द्वेष है, नहीं प्राप्ति का लोभ।
भोगे वह फिर भी रहे, जग-रति मुक्त सुशोभ॥०७१२॥

कुछ भी हो कारण दशा, न कर न कह अपशब्द[२]।
अस प्रशान्त जग-पूज्य, ज्यों, प्यासी भू को अब्द[३]॥०७१३॥

दूषित चिन्तन वृत्ति हैं, चहुँ-दिश, न हो निरास।
मात्र सुपथ तव दे रहा, भास[४] कि सतयुग पास॥०७१४॥

सीखें, लोभी त्याग का, कामी पावन पाठ।
प्रेम घृणी करने लगे, तब सत् हो युग-राठ[५]॥०७१५॥

नन्द मिले जिस कर्म से, वह सुन्दर, वह सत्य।
रे मानव! सो सत्य में, जी विचार कृत कथ्य॥०७१६॥

करें सुनिश्चित कर्म ही, इह पर जग की नीव।
सो करना सद्‌कर्म रे, बँधा कर्म से जीव॥०७१७॥

---

१. सञ्जीव-जीवित; २. अपशब्द-दुर्वचन, सदोष;
३. अब्द-बादल, जल देने वाला; ४. भास-आभास;
५. राठ-राजा

पग पग को पथ-ज्योति

मानवता को जन्म दे, प्रभु में ध्रुव विश्वास।
जो समाज समरस्य को, है आवश्य[१] उजास॥०७१८॥

खड़ी न कर विभु स्वयम् के, बीच पाप की भीत[२]।
होगा जीवन अन्यथा, आकुल दुखद व्यतीत॥०७१९॥

जल सकते इक दीप से, लौ पा अनगिन दीप।
अतः धार, जो धर सकें, सुगुण, स्वभाव-प्रतीप[३]॥०७२०॥

यदि मन वाणी कर्म से, साधें स्वके प्रयास।
प्रगति मार्ग बनकर रहें, साधन भले न पास॥०७२१॥

इच्छा ऊँचे लक्ष्य की, दत्त-चित्त तद्-यास।
मनोदेह श्रम वृत्तियाँ, पा सकतीं कैलास॥०७२२॥

सदा दृष्टि सुस्पष्ट हो, हो अनन्त सन्तोष।
प्रिय साहस दयशीलता, उत्तम जीवन-कोष॥०७२३॥

यदि यथार्थ, उपयोगिता, परखे चिन्तन दृष्टि।
दूर-दृष्टि परिपक्व हो, मिले प्रगति, तब दिष्टि[४]॥०७२४॥

सब में रहे महानता, बीज-रूप विदमान।
पर हो[५], जो आदर्श की, कर्मठता की खान॥०७२५॥

---

१. आवश्य-आवश्यक; २. भीत-दीवार; ३. स्वभाव-प्रतीप-विपरीत स्वभाव वाले; ४. दिष्टि-सौभाग्य; ५.पर हो-किन्तु महान होता है या बनता है

अतिमुद निज सुख में नहीं, पर-दुख में नहिं हर्ष।
दे, न करे पछताव, हो, अस पर विभु दय वर्ष॥०७२६॥

रागी भोगी लड़ मरें, विरत[१] विरत[२]-आनन्द।
सुख उत्पन्न असत्य से, दे सदैव दुख मन्द[३]॥०७२७॥

शक्ति, गुणों की शक्ति से, कोउ न अधि बलवान।
कर्मों से यह दे बना, नर को भी भगवान्॥०७२८॥

ज्ञानवान ही बन सकें, परहित पोषक छाँव।
पर अज्ञानी को चलें, औरों के ही पाँव॥०७२९॥

श्रम-निष्ठा निस्स्वार्थता, सेवा दें पर-प्यार।
लौकिक अभिलाषा न दे, पर कदापि निस्तार॥०७३०॥

स्वपन जाल बुनना, नहीं, दे चरित्र जाज्वल्य।
श्रम कठोर दे हाथ में, वरन् अमल साफल्य॥०७३१॥

आत्म-तत्त्व की ऊर्ज से, दीपित मनुज विवेक।
सो रख पग कर्तव्य का, जग-हित में प्रत्येक॥०७३२॥

सबके उपयोगी हिती, रहें सदैव सकार[४]।
मन अस वृत्ति विचार में, रखें, नकार[५] नकार[६]॥०७३३॥

स्वयम् कष्ट सह और को, सुख दे, करे प्रयास।
जीवन अस रहता नहीं, कभी विपन्न[७] उदास[८]॥०७३४॥

---

१. विरत-विरक्त; २. विरत-संलग्न, लीन; ३. मन्द-अभाग्य; ४. सकार-सकारात्मक, सृजनात्मक; ५. नकार-अस्वीकार कर; ६. नकार-नकारात्मक को; ७. विपन्न-संकटग्रस्त; ८. उदास-खिन्न

जीवन का पंकज खिले[१], संस्कृति का सन्देश।
उसकी धार[२] सुवास को, भू पर कर द्यौ[३] वेश[४]॥०७३५॥

सज्जन प्रति श्रद्धा जगे, दुर्जन तईं अतोष।
मन में मनुता धर[५] रही, समझ! नियति हर[६] दोष॥०७३६॥

मैं मेरा के भाव को, कभी न देता भाव।
कर अर्पण मन बुद्धि का, बनता भक्त स्वभाव॥०७३७॥

मोक्ष काम धर्मार्थ की, रहे लेश नहिं दृष्टि।
तब प्रकटे अनुभूति में, स्वतः विचक्षण[७] हृष्टि[८]॥०७३८॥

लहरें आत्मा-स्रोत[९] की, दयापूर्ण व्यवहार।
आप[१०] सत्त्व, तट शील है, नहा, उरस् में धार॥०७३९॥

दृष्टि तभी हो अन्यथा, टूटे जब विश्वास।
मेरे उर देना सदा, सो सबको सत्-भास॥०७४०॥

पत[११]भय बिन स्वीकारना, की गई अपनी भूल।
क्षति[१२] अमान[१३] नहिं, पन्थ दे, वरन् कुलीन[१४] अशूल[१५]॥०७४१॥

जिस पल निज अज्ञान का, हो नर को संज्ञान।
चढ़ मति मन्दिर का गया, मानो वह सोपान॥०७४२॥

तप-धन विद्या सम्पदा, अतुल, विपुल भी दान।
मौन रखे इस ओर से, पर जो श्रेष्ठ पुमान॥०७४३॥

---

१. खिले-खिलाता है; २. धार-धारण कर के; ३. द्यौ-स्वर्ग; ४. वेश-प्रवेश; ५. धर-स्थापित करना; ६. हर-हरण करके; ७. विचक्षण-प्रकाशमान; ८. हृष्टि-आनन्द; ९. स्रोत-नदी; १०. आप-जल; ११. पत-लाज; १२. क्षति-हानि; १३. अमान-निरादर; १४. कुलीन-निर्मल; १५. अशूल-कष्ट रहित

चिन्ता भय पालें नहीं, चिन्तन करें स्वतन्त्र।
ऋद्धि सफलता सुख मिले, पर तब, सद्[१] जब मन्त्र[२]॥०७४४॥

तज लखना पर-दोष का, रख गुण-दर्शी दृष्टि।
अहम् पिघल होने लगे, तब अनुभव सुख सृष्टि॥०७४५॥

मन की थिति वैषम्य[३] में, रखें सन्तुलित शान्त।
जीवन तब ही हो सके, सर्वहिती सुख-दान्त॥०७४६॥

बहुत बोलने से नहीं, बने कोउ विद्वान।
वरन् करे निर्बैर का, जिसको सच्चा ज्ञान॥०७४७॥

नहिं विचार का और के, तुरत करें प्रतिकार[४]।
दर्शा[५] वरन् दशाओं को, प्रस्तुत करें सुधार॥०७४८॥

ज्ञान-दृष्टि की हाँ बिना, वैभव चाहे हीय।
तब, अघ कर्मों से करे, क्रूर हनन परकीय[६]॥०७४९॥

बढ़ते पग उस ओर को, मुख होता जिस ओर।
सो तज दैन्य मलीनता, भीरु-भाव, मन-रोर[७]॥०७५०॥

विवशताएँ करने न दें, यदि अनीति का रोध।
तब चुप, पर मन में रखें, दीप्त रोध की कोध[८]॥०७५१॥

देने में असमर्थ हों, जब पदार्थ सहयोग।
सुखद कामना भावना, तब भी दें मुनि[९] लोग॥०८५२॥

१. सद्-पवित्र, उत्तम; २. मन्त्र-समझ, बुद्धि; ३. वैषम्य-विषमताएँ; ४. प्रतिकार-विरोध; ५. दर्शा-दर्शाकर; ६. परकीय-दूसरों का; ७. रोर-अत्याचारी, दुष्ट, उद्धत; ८. कोध-दिशा; ९. मुनि-मननशील

शोभा पाते जो करें, हाथ दान सहयोग।
पर नर-छवि[1], हो नम्रता, अरि से भी उपयोग॥०७५३॥

छल प्रवञ्चना[2] झूठ का, करे भोग, उपयोग।
सो जीवन का हो सके, कभी साध्य नहिं भोग॥०७५४॥

होते लगें अनर्थ से, पूरे निज अभिप्राय।
किन्तु अन्ततः ज्ञात हो, जीवन किया अपाय[3]॥०७५५॥

प्राप, अनय से, दे सके, भले भौत उत्कर्ष।
पर नर-धर्म विनष्ट हो, अन्तः बने विहर्ष[4]॥०७५६॥

तज भल-मन का पन्थ जो, अपना चुके अनीक।
उन मुख भले प्रसन्न हो, पर उर अनय प्रतीक॥०७५७॥

दुष्ट-युक्ति[5] अघ-पन्थ से, बने अन्य से अन्य[6]।
मात्र सुसंगति ही करे, जो वह हो, जग-धन्य॥०७५८॥

नहिं उभरें[7] मत भेद से, अपने मन मतभेद।
न तु जन्मेगी शत्रुता, अन्यों प्रति छल-छेद॥०७५९॥

झुकना नहीं अनीति के, सम्मुख, रखता ध्यान।
कोई फिर जग में उसे, झुका सके नहिं मान[8]॥०७६०॥

न हों भूल अघ, कर्म में, रच अस सत्-विश्वास।
अन्यों रचित विरोध से, तब जीते निज आस[9]॥०७६१॥

---

१. छवि-सुन्दरता; २. प्रवञ्चना-ठगी, धूर्तता; ३. अपाय-नष्ट, निरुपाय; ४. विहर्ष-आनन्दरहित; ५. दुष्ट-युक्ति-वह जिसकी युक्तियाँ दुष्ट हों; ६. अन्य-दूर; ७. उभरें-उभारें; ८. मान-अभिमान; ९. आस-लक्ष्य

निज पापों से स्वयम् ही, हो मन खिन्न उदास।
सच के प्रति तब प्रेम का, अन्त: भरे उजास॥०७६२॥

विरत पाप से हों, करें, धर्मी प्रिय व्यवहार।
पुण्य[१] सर्वकल्याण का, साधन यही, विचार!॥०७६३॥

खोजें नहिं पर-छिद्रता, बनें कपट छल-मुक्त।
अघ अनर्थ से हट रहें, उनसे विभु हों युक्त॥०७६४॥

देख सको दिखला सको, अपने दुर्गुण दोष।
पा सकता सच में तभी, तव विकास पथ पोष॥०७६५॥

शलभ दीप पर जल मरे, सुख की मति से धाय।
पड़ भोगों के भोग में, तस नर स्वसत् नसाय॥०७६६॥

कामनाओं इच्छाओं का, संयम, है कल्याण।
तुष्ट स्वयम् को रख करे, परहित का निर्माण॥०७६७॥

जब सुगुणों को ज्योति दें, कर सीमित अभिलास।
तब उर भरते शान्ति से, तोष ऋद्धि उल्लास॥०७६८॥

लोभ कामना, त्यागना, होता तप निष्काम।
पाता नर सद्भाव में, इससे सहज विराम[२]॥०७६९॥

रखे, लोक-हित कामना, आत्म-भाव की जाग।
पर सम्भव, जब स्वयम् हो, स्वहित कामना त्याग॥०७७०॥

१. पुण्य-पावन, पवित्र; २.विराम-ठहराव, अन्त

हय-गति सीधी हो सके, बाँध अँधेरी[1] रास[2]।
तस मन-हय विभु ओर को, हो, यदि षड्रिपु, दास॥०७७१॥

लोभ लाल बड़ हेतु भी, हो नहिं पर-आधीन।
क्योंकि आत्म-सम्मान का, जीवन हीन-विहीन॥०७७२॥

रखता जिसे कुकर्म में, तुरत लाभ का राग।
नहिं भावी परिणाम को, सोचे वही कुभाग॥०७७३॥

बचे ईर्ष्य क्रोधादि से, रहे द्वन्द्व निरपेक्ष।
सम, धी सिद्धि असिद्धि में, रखे न जगत्-अपेक्ष[3]॥०७७४॥

अस्पर्शित रह ईर्ष्य से, क्षमा स्वयम्-बन भ्रात।
सिद्ध-स्रोत उत्कर्ष का, है यह थिति साक्षात्॥०७७५॥

रखें नियन्त्रित क्रोध को, करें क्रुद्ध को शान्त।
दुस्सह-दुख में भी रहें, धीर, न हों अस क्लान्त[4]॥०७७६॥

क्रुद्ध क्रोध पर हो, न हो, भले अदय पर क्रुद्ध।
क्योंकि सर्व पुरुषार्थ[5] की, करे प्राप्ति यह रुद्ध[6]॥०७७७॥

जगा प्रेम सेवा दया, का हिय में उन्माद।
नर षड्रिपु कामादि तो, मात्र जनें अवसाद॥०७७८॥

काम क्रोध का शून्य हो, पूर्ण लिया मन जीत।
उसे असत्-इस-लोक में, भी विभु प्राप्त ग्रहीत[7]॥०७७९॥

---

१. अँधेरी-आँखों पर बाँधने का पर्दा; २.रास-लगाम; ३. अपेक्ष-आशा, चाहा हुआ; ४. क्लान्त-हतोत्साह; ५. पुरुषार्थ-धर्म अर्थ काम मोक्ष; ६. रुद्ध-अवरुद्ध; ७. ग्रहीत-ज्ञात

पिँजर तोड़ कल्याण की, सिंह चुने जस बाट।
बली आत्म-बल, लोभ के, तस दे बन्धन काट॥०७८०॥

जिन विवेक है मानवी, हैं मर्यादित पाँव।
लोभ मोह मद की उनें, छू भी सके न छाँव॥०७८१॥

जीव-तत्त्व सम-देखना, दया क्षमा अक्रोध।
सत्य अहिन्सा मुक्ति दें, षड्‌रिपु-तज, सत्-बोध॥०७८२॥

अहम्‌कार विभु से नहीं, जुटने दे सामीप्य।
मिटे[१] इसे तब बन सके, नर विभु-लौ से दीप्य[२]॥०७८३॥

निरभिमानता चित्त की, मनुज सरलता होय।
उसके सब गुण साथ में, रहें जैस सुत कोय॥०७८४॥

जग-द्रव्यों से हो नहीं, अहम्‌कार सम्पृक्त[३]।
तब एषा[४] घट[५], पग उठें, सत्-चित नन्दन सिक्त[६]॥०७८५॥

सबके साथ प्रसन्नता, सबको दृग-मुस्कान।
अहम्‌कार को अन्त दे, चित को सजन[७] उठान[८]॥०७८६॥

करुणा, सुधि कर्तव्य की, उपकृति[९] बिन सब व्यर्थ।
मात्र अपन सुख चाहना, नर नहिं दे पशु-अर्थ॥०७८७॥

स्वहित-पूर्ति व्यवहारिका[१०], नहिं जीवन का अर्थ।
अपितु सर्वहित साधना, जीवन-सत् अभ्यर्थ[११]॥०७८८॥

---

१. मिटे-मिटाता है; २. दीप्य-प्रभासित होने योग्य; ३. सम्पृक्त-युक्त; ४. एषा-इच्छा; ५. घट-घटकर; ६. सिक्त-भीगे हुए; ७. सजन-सज्जनता; ८. उठान-ऊँचाई, विकास; ९. उपकृति-उपकार; १०.व्यवहारिका-रीति-रिवाज; ११. अभ्यर्थ-पूज्य

बने सर्व-शुभ की नहीं, जब तक स्वार्थी-सोच।
अन्त:-मानव को रखें, पशु-प्रवृत्तियाँ पोच॥०७८९॥

निज जीवन पर आँख दें, सुखद वही था काल।
तजा स्वार्थ, जब की दया, व्याकुल किए निहाल॥०७९०॥

रखना स्वार्थ परार्थ में, सामञ्जस्य समान।
अहितक कभी न कर सके, क्योंकि अपन उत्थान॥०७९१॥

ऊपर उठकर स्वार्थ से, करते यदि कर्तव्य।
दे जाते व्यवहार को, जीवन धर्म सुसभ्य॥०७९२॥

कर सामाजिक, स्वार्थ से, हट, बन उरस् विशाल।
परिचय जीवन श्रृंग[१] से, हो तब करे निहाल॥०७९३॥

सम्वर्धन चित-शक्ति को, दे मन को जग-मुक्ति।
सर्वहिती संलग्नता, है अस जीवन-युक्ति॥०७९४॥

जो अपने को हारता[२], जीते वही स्वमान[३]।
उसके कर्मों पर रखे, जन गण मन अभिमान॥०७९५॥

आत्म-ज्ञान पावे, करे, रक्ष आत्म-सम्मान।
शेष ऐस में रह सके, नहीं अहम् अवमान[४]॥०७९६॥

देव-मनुष की जाति का, शक्य तभी उद्भाव।
त्याग करें संकल्प से, जब सब अहम्-लगाव॥०७९७॥

१.ऋंग-उत्कर्ष; २. अपने को हारता-अभिमान तज नम्र छोटा बनना; ३. स्वमान-स्वयम् हेतु आदर; ४. अवमान-आत्मा को गिराना, अवज्ञा

सम्भव भले अशक्य का, हो जाए अवतार।
जला तृषा में, रख सके, पर नहिं उच्च विचार॥०७९८॥

तृषा कामना की कभी, बुझे नहीं दावाग[१]।
रखना सो सन्तोष के, हाथों मन की बाग॥०७९९॥

है में तोषी, मानता, जो सब, विभु की देन।
रहे चित्त-शुचि शान्ति से, सेवारत सम धेन[२]॥०८००॥

सुख, माधो! सन्तुष्टि है, जीवन हिते यथार्थ।
नियति कर्म प्रत्येक में, अत: ढूँढ तोषार्थ॥०८०१॥

निज साहस जग[३], सूझ से, जूझ, हटें सब कोप।
पर नहिं हटे विपन्नता, दोष और-पर थोप॥०८०२॥

रह विराग, जी सन्त सा, साहस यौध-प्रकार।
हर्ष सफल तब पा सके, जस सम्पन्न उदार॥०८०३॥

नहिं रक्षा सहयोग की, प्रभु से करना माँग।
माँग वरन्, हों कष्ट में, धृति[४] मन-बल दृढ़ साँग[५]॥०८०४॥

कर साहस संकल्प का, अनय-रोक उपयोग।
समरसता, ओजस्विता, जो कि पा सकें लोग॥०८०५॥

निर्भय संकट में रहे, हो नहिं निष्ठुर क्रूर।
अक्षय सत्य उदारता, रखे क्षान्ति[६], है शूर॥०८०६॥

---

१. दावाग-दावाग्नि; २. धेन-समुद्र, नद, पृथ्वी; ३. जग-जगाकर;
४.धृति-धैर्य; ५. साँग-अवयवों से पूर्ण; ६. क्षान्ति-क्षमा, सहिष्णुता

विभुता पाने हेतु भी, आवश्यक श्रम त्याग।
पर तब सत्-विभुता मिले, न हो स्वार्थ का राग॥०८०७॥

त्याग वस्तुतः प्रेम का, श्रेष्ठ विवेकी धर्म।
सो विवेक कष पर नहीं, खरे, त्याग अस कर्म॥०८०८॥

करना फल की आस से, दे मानव उत्कर्ष।
करके, पर फल आस का, त्याग, सदा दे हर्ष॥०८०९॥

त्याग उसे जो मिल रहा, अन को दे दुख, हर्ष।
क्योंकि चरित में यह भरे, पापी पशुता तर्ष॥०८१०॥

त्यागें उद्धत वृत्तियाँ, स्वार्थ-जगत् के धोख।
करुणा प्रेम सहिष्णुता, तभी जने उर-कोख॥०८११॥

तजना घातक भावना, धरना[1] मूल्य उदार।
यही साधना, जय यही, यही नाव भव-तार॥०८१२॥

इच्छा-सीमित संयमी, सत्य कर्म की रीत।
रहे न क्षोभ अतोष में, जिए सर्व-सम प्रीत॥०८१३॥

साक्षी मन की चेतना, बन, यदि दे निर्देश।
संयम में करने लगें, तब मन-करम प्रवेश॥०८१४॥

जीवन-भर जिसकी रहे, इच्छा-शक्ति कठोर।
ले वह लाभ सुयोग[2] का, पाव सुभीता[3] घोर॥०८१५॥

---

१. धरना-धारण करना; २. सुयोग-अवसर; ३. सुभीता-आसानी

प्रभावान जग में रहे, संयम जोय-स्वभाव।
अन्तःकरण प्रशान्ति को, सत्य-कर्म पर पाव॥०८१६॥

रहे संयमी कर्म में, सबल आत्म-विश्वास।
फलतः हो उत्साह से, सफल, साध्य का यास॥०८१७॥

सरल रहन[१] धी-संयमी, अल्प-धनी पर दान्त[२]।
इन्द्रिय-दम, रखता दया, उस उर रहे निशान्त[३]॥०८१८॥

सब प्रकार से दीन भी, भरसक करे विधान।
थका हीन फिर क्यों, बढ़ा!, पग, पा रे सम्मान॥०८१९॥

नियति नहीं, श्रम से मिले, सकल लाभ उपकार।
जीवन को दें युक्तियाँ, शेष सभी, अपचार[४]॥०८२०॥

रखते अध्यवसाय के, जो सदैव ही भाव।
साहस कभी न हारते, भले विफल ही पाव॥०८२१॥

उपयोगी निर्माण में, श्रम कौशल कर लीन।
तव गरिमा क्षमता तभी, बने अमोल अदीन[५]॥०८२२॥

पुष्ट मूल्य पुरुषार्थ का, जब प्रण, कर्म उछाह।
प्रगति ओर जीवन चले, हो कर्तव्य निबाह॥०८२३॥

लगन परिश्रम सत्यता, जिस अर्जन से पृक्त[६]।
वह गरिमा विश्वास से, रहे योग्यता दिप्त[७]॥०८२४॥

---

१. रहन-रहने का ढंग; २. दान्त-दाता; ३. निशान्त-बहुत शान्त; ४. अपचार-दुराचार; ५. अदीन-तेजस्वी; ६. पृक्त-भरा हुआ; ७. दिप्त-दीप्त, प्रभाषित

बनतीं कभी विचार के, थितियाँ नहिं विपरीत।
सो विचार उत्कृष्टता, रख मांगल्य[१]सुनीत[२]॥०८२५॥

सब कुछ रचा विचार ने, यदि दृढ़ रखें विचार।
स्व-विचारों को दे सकें, तब ऐच्छिक आकार॥०८२६॥

दुश्चरित्र मन का तजें, सात्विक रखें विचार।
पावें पूर्ण मनुष्यता, यदि नियमित[३] हों कार[४]॥०८२७॥

पन्थ, लाभ, निर्वाण के, पृथक, जिसे हो ज्ञान।
अस-विवेक करके रहे, थित अ-द्वैत में ध्यान॥०८२८॥

साथ विवेक विवेचना, रख, परखें थिति काल।
ज्ञान भाव होते तभी, मञ्जुल, उरस् विशाल॥०८२९॥

आश[५] अनागत[६] से रखें, नहिं, नहिं उससे भीति।
दूर-दृष्टि परिणाम में, पर विवेक की नीति॥०८३०॥

रख विवेक की ज्योति में, स्वच्छ वृत्तियाँ भाव।
तब खुल पथ सत् धर्म का, निखरे उरस् स्वभाव॥०८३१॥

दुख का कारण, स्वयम् की, दूषित चिन्तन दृष्टि।
शुद्ध विवेकी दृष्टि को, कर! बरसे जो हृष्टि॥०८३२॥

सतत् विचारों में रखें, निर्मल उर की छाँव।
हटा सके, प्रतिकूल भी, नहिं तब, बढ़ते पाँव॥०८३३॥

---

१. मांगल्य-मंगलकारी; २. सुनीत-विनीत, भद्र, बुद्धिपूर्ण; ३. नियमित- नियम-बद्ध; ४. कार-क्रियायें, कर्म; ५. आश-आशा; ६. अनागत-भविष्य

सेवा करुणा प्रेम को, रोपें, हरती[1] क्लान्ति।
बढ़े विचार-पवित्रता, श्रेयस् निश्चय कान्ति॥०८३४॥

चिन्तन-शक्ति अमोघ[2] का, बन अक्षय भण्डार।
स्वार्थजनित संसार के, जो हट सके उपार[3]॥०८३५॥

नियत करें, ऐसे जिएँ, आज विचार प्रयास।
सुखी सम्मुनत, कर सकें, जो कल को मधुमास॥०८३६॥

समय पड़े सोचें करें, देखें गहन, सुदूर।
बनें अनालस[4] साहसी, विघन[5]-चूर नर-सूर॥०८३७॥

भाव भावना कर्म का, जग-शुभ नहिं, यदि लक्ष।
नर कुण्ठा हत-आश में, तब हो व्यथित विलक्ष[6]॥०८३८॥

उलट वार बहुधा करे, जस अध-कुचला नाग।
अनवधान, आधा किया, तस दे लाज अभाग॥०८३९॥

अशुभ भविष की चिन्त में, बिरथा रह नहिं क्षुब्ध।
वरन् प्रगति की पूर्ति के, जुटा कर्म सद्-बुद्ध॥०८४०॥

अहित न अन का हो, भले, दीन विवश जड़[7] भृत्य[8]।
मन-शम[9] श्रेष्ठ विचार दे, पूजा है वह कृत्य॥०८४१॥

चिन्तन में इक-रूप[10] हो, श्रद्ध आस्थ[11] विश्वास।
तभी कर्म पूजा बने, वन्दन जप उपवास॥०८४२॥

१.हरती-हरण होती है; २. अमोघ-अचूक, अव्यर्थ; ३. उपार-दोष, पाप; ४. अनालस-बिन आलस के; ५. विघन-विघ्न; ६. विलक्ष-घबराया हुआ; ७. जड़-अज्ञानी; ८. भृत्य-सेवक; ९. शम-शान्ति; १०. इक-रूप-एकाकार, लय; ११. आस्थ-आस्था

क्षमा क्रोध में हो, रहे, रख सहिष्णु अधिकार।
विभुता पाव, अभाव में, भी जिस कर्म उदार॥०८४३॥

धरें सोचकर कर्म के, पग सज्जन विद्वान।
प्रतिफल कर्माधीन है, क्यों कि उनें हो[१] ज्ञान॥०८४४॥

पर-शुभ करना सोचना, बनना सहन[२] स्वभाव।
दुख-निवृति आनन्द दे, चित के हरे अभाव॥०८४५॥

हो जहँ प्रत्युत भावना, दुख दे, वह व्यापार।
किया भाव निष्काम से, पर तोषक उपकार॥०८४६॥

विघ्नों पर जय पाव को, करने से संघर्ष।
हो प्रवेश व्यक्तित्व में, स्वतः सुखद उत्कर्ष॥०८४७॥

पुण्य श्रेष्ठ शुभ-कर्म हैं, सीधे, अधिक सुसाध्य।
सो पालन कर, स्वर्ग सा, जीवन बना[३] अबाध्य॥०८४८॥

पग पग मन्थर ही भले, बढ़, बढ़ता विश्वास।
अस पग हटें अशक्य को, बन विघ्नों का नास॥०८४९॥

कर्मों के परिणाम में, जिनकी सूझ प्रवीण।
बच प्रपञ्च से, वे बनें, आत्म-पथिक पारीण[४]॥०८५०॥

मूल्य मनुज कर्तव्य का, नीति धर्म का, मित्र।
इनके त्यागे नष्ट हो, जन-हित आत्म-चरित्र॥०८५१॥

---

१. हो-होता है; २. सहन-सहनशीलता; ३. बना-बना लें;
४. पारीण-पारंगत

फल ही है कर्तव्य का, कर्ता का अधिकार।
एक-चित्त कर्तव्य में, सो हो, हो अविकार॥०८५२॥

पालन में कर्तव्य के, न हो किसी से त्रस्त[१]।
रोक, आत्म-बल धर्म से, तब हों अस्त समस्त॥०८५३॥

तृप्ति नन्द, कर्तव्य दें, जस अविरल नद धार।
अतः पालना, सोचना, उनको कभी न भार॥०८५४॥

दूरी अपनों से करे, अधिकारों की लाल।
मिले स्वतः अधिकार तो, कर्तव्यों को पाल॥०८५५॥

वैभव मत्त न कर सके, संकट हरे न मान।
जब हो कर्तव्यों तई, जीवन निष्ठावान॥०८५६॥

भलीभाँति कर्तव्य का, पालन, जीवन-श्वास।
क्योंकि लाज मर्याद का, इसमें ही सत्-वास॥०८५७॥

सफल-विफल नहिं, जो रहें, कर्तव्यों में तुष्ट।
अस पौरुष ही पा सकें, शान्ति नन्द सुख सुष्ट[२]॥०८५८॥

दायित्वों का पालना, निरासक्त हों कर्म।
यही मुक्ति का मार्ग है, जग-हित जीवन धर्म॥०८५९॥

माया! परिजन मात्र से, बँधा प्रेम मम मोह।
सर्वभूत पर प्रेम की, पर सम-वर्षा, छोह[३]॥०८६०॥

---

१. त्रस्त-भयभीत; २. सुष्ट-अच्छा; ३. छोह-दया, कृपा

उच्चारण में सत्य का, कथन, सहज मतिमान।
पर सत् के अनुरूप में, सधें विरल बन वान[१]॥०८६१॥

सेवा कर सकते नहीं, स्वार्थ अहम् पाण्डित्य।
प्रेम समर्पण दे सकें, सेवा का साहित्य[२]॥०८६२॥

शास्त्र जीभ पर, है नहीं, वह कदापि विद्वान।
वरन् बरतता, विज्ञ है, प्रेम शील सत् ज्ञान॥०८६३॥

सत्य धर्म निष्ठा रखो, संयम मैत्री भाव।
उसे विपद् भी दे सके, नहिं अपजय भटकाव॥०८६४॥

निज कर्तव्यों को निभा, बनकर दृढ़ जस खम्भ।
पर आँचल छूएँ नहीं, कपट द्वेष छल दम्भ॥०८६५॥

श्रेष्ठजनों से प्रेरणा, ले बन अहम्-विहीन।
सबसे संगति प्रेम की, रख, कर सर्वजनीन[३]॥०८६६॥

कोउ न भूषण शील सा, निधि अस नहिं जस दान।
मिले शत्रु नहिं लोभ सा, धन नहिं तोष समान॥०८६७॥

मानव में शालीनता, केवल वह आधार।
पा महानता के सकें, जिससे तथ्य अपार॥०८६८॥

सदाचार उपकार में, रख मति कृत[४] प्रत्येक।
यह सदैव आनन्द का, सार-रूप पथ एक॥०८६९॥

---

१. वान-सुगन्ध; २. साहित्य-हितयुक्त होने का भाव; ३. सर्वजनीन- सबसे सम्बन्ध रखने वाला; ४. कृत-उद्देश्य

जिस उर में उमड़े नहीं, आर्त अबल प्रति प्रेम।
प्रकट कभी विभु की न हो, उसमें शोभित[१] टेम॥०८७०॥

मन पवित्र नहिं, हो सकें, कैसे कर्म पवित्र।
चिन्तन अशुभ, प्रतीक है, निर्बल अधम चरित्र॥०८७१॥

विरथा हैं उसके सभी, धन पद यश साफल्य।
शेष नहीं जिसमें रहा, नयन उरस् तारल्य॥०८७२॥

नहिं धन यश की लाल से, करना कर्म चुनाव।
न तु मानवता सत्य से, हो हटाव भटकाव॥०८७३॥

रख, अपने मनुजत्व का, हो विकास, अभिलास।
'ही'[२] विशाल बन, हट सकें, जिससे अहम् विलास॥०८७४॥

दया मुदित उर से करें, अपनेपन से दान।
सज्जन के सहयोग में, साथ रखें 'ही'[२] प्रान॥०८७५॥

जिस उर, करुण पवित्र है, स्वाभिमान से प्रोत।
भले अधन, पर पा रहे, श्रद्धा-प्रणत[३] उदोत[४]॥०८७६॥

प्रिय सबको निज प्राण हैं, सबकी सम अनुभूति।
सब पर सो निज प्राण सी, रखें दया की जूति[५]॥०८७७॥

बात न बढ़ चढ़ हों, रहें, बाहर भीतर एक।
त्याज्य कपट उद्दण्डता, नय यश पाव अरेक[६]॥०८७८॥

---

१. शोभित-विराजमान, शोभायमान; २. ही-हृदय; ३. प्रणत-विनयी; ४. उदोत-उज्ज्वल; ५. जूति-प्रवृत्ति; ६. अरेक-निस्सन्देह

बरते चतुँर भुजंग सा, रखे सरल 'ही' स्रोत।
पथ-च्युत कोउ न कर सके, उस प्रबुद्ध का द्योत[१]॥०८७९॥

पापाचारों को नहीं, गहे, गहे कर पुण्य।
बैर न पापी से, रखे, वह सच्चा कारुण्य॥०८८०॥

आवश्यकता-युक्त को, दें, जो चाहे पोष।
अन्तः को निर्मल करे, इससे मिला स्वतोष॥०८८१॥

दया धर्म उर में बसे[२], मुख में माधुर बोल।
नेत्र नम्रता-भर झुके[३], नर है वही अतोल[४]॥०८८२॥

बिना क्रूरता, अन्य के, बनना दोष निवार।
अचला[५] सम उर धारना, क्षमा भाव विस्तार॥०८८३॥

चित मधुता सुकुमारता[६], दे अपनत[७] उत्कर्ष।
सो तज संशय व्यर्थ के, बन सामाजिक हर्ष॥०८८४॥

अथ करते होगा लगे, पूर्ण न, अच्छा काम।
सहज सफल दे, काम की, पर भलता का भाम[८]॥०८८५॥

बुद्धिमान खाता नहीं, जैस मृदा, तज अन्न।
तजें कुपथ ढूँढ़ें चलें, तस पथ सत्-सम्पन्न॥०८८६॥

केवल करना चाहिए, उन सुख का उपभोग।
करें धर्म प्रतिकूल का, लेश न जो उपयोग॥०८८७॥

---

१. द्योत-प्रकाश; २. बसे-बसाता है; ३. झुके-झुकाता है; ४. अतोल-अतुलनीय; ५. अचला-पृथ्वी; ६. सुकुमारता-कोमलता; ७. अपनत-अपनत्व; ८. भाम-प्रकाश

श्रद्धा गौरव भव्यता, पाव श्रेय जस देव।
अन को, अपना ले बना, चरितवान स्वयमेव॥०८८८॥

कितनी उरस् पवित्रता, भाव करुण शालीन।
करती व्यक्त विनम्रता, कितना स्वात्म-अधीन॥०८८९॥

नैतिकता व्यक्तित्व को, दे उजला उपचार[१]।
आप भला तो जग भला, कर निज कर्म सुधार॥०८९०॥

मनन करे जो सत्य का, सत् पर भी आरूढ़।
साधु सहज समझे वही, जग, जीवन सत्-गूढ़॥०८९१॥

पाँवों पर आँखें रखें, सत् से युत[२] हों बोल।
दे उनको संसार भी, जीवन सुखद विलोल॥०८९२॥

थिति[३] सद्कर्मों में रहे, चुनें सदा सद्-साध्य[४]।
वरदहस्त की चाह ले, रहते वे निर्बाध्य॥०८९३॥

प्रामाणिक चारित्रता, सामाजिक सम्मान।
बसें सरल सामान्य में, जीवन के प्रतिमान[५]॥०८९४॥

शुभदा व्यष्टि समष्टि को, दृष्टि शैलियाँ कर्म।
सद्-चरित्र उर-पूतता, यही मनुजता, धर्म॥०८९५॥

सामाजिक सम्वेदना, नैतिक, आत्मन्[६] चर्य।
करती प्रकट विनम्रता, अन्तर का सौन्दर्य॥०८९६॥

---

१. उपचार-व्यवहार, शिष्टाचार; २. युत-सहित, युक्त; ३. थिति-स्थिति; ४. साध्य-लक्ष्य; ५. प्रतिमान-मानदण्ड; ६. आत्मन्-आत्मा

आवश्यकता एक सी, दैहिक भाव समान।
जो समझें, वे ही रहें, यत्नशील रत-दान।०८९७॥

शान्त वृत्ति कर द्वेष की, न दे हान अपमान।
सेवा जग[1] उसमें मिटें, फलासक्ति अभिमान।०८९८॥

जीवन की संजीवनी, अपनापन सहयोग।
इनके बिन नर झेलता, आत्मिक-सौख्य वियोग।०८९९॥

नहिं कदापि बुझते, करें, सन्तत परहित-कर्म।
अस दीपों के रूप हैं, मानवता गुण धर्म॥०९००॥

धवल चरित, श्रम साधना, सेवामय कर्तृत्व।
जन जन के विश्वास में, नर प्रति दें भ्रातृत्व।०९०१॥

जितना भी जग से लिया, कर उससे अधि दान।
इस सज्जनता का करें, युग-मानस, विभु मान॥०९०२॥

जागृत करुणा भीतरी, जिय में भरती नेह।
सेवा दे आचार को, सहन शक्ति को गेह[2]॥०९०३॥

निरत[3] शक्ति व्यक्तित्व को, दें सेवा परमार्थ।
मिले नन्द होने लगे, पूर्ण मनुज, सत् स्वार्थ[4]॥०९०४॥

सामाजिक दायित्व ही, यश गौरव[5] के मूल।
भाव-समर्पण से हुई, सेवा दे अनुकूल[6]॥०९०५॥

---

१. जग-जगकर; २. गेह-घर; ३. निरत-निरन्तर; ४. सत् स्वार्थ-प्रयोजन सत्य होने लगता है; ५. गौरव-प्रतिष्ठा, सम्मान; ६. अनुकूल-मानसिक शान्ति, अनुग्रह, कृपा

मानस को उज्ज्वल करें, उर को दें आनन्द।
परहित सेवा प्रेम हैं, कर्मों का मकरन्द।।०९०६।।

गहन विचारें दैन्य की, मार्मिक-पीड़ अभाव।
भूल कष्ट तब जागता, पर-उपकार स्वभाव।।०९०७।।

जागृत सेवा त्याग की, करें भावना प्राप।
तब सद्शील चरित्र हो, न हो त्रास सन्ताप।।०९०८।।

जिनें सहायता चाहिए, उनके बनें सहाय।
करने में रुकना नहीं, भला, भले अघ-राय।।०९०९।।

तप नहिं कर विभु-दीठ को, यह नहिं सहज उपाय।
वरन् जहाँ जी[१], कर दया, बन उस हिती सहाय।।०९१०।।

जिन बल क्षमता योग्यता, सेवा-हित आहूत[२]।
वह समाज कल्याण में, विभु या हैं विभु दूत।।०९११।।

जो सदैव प्रभु को रखें, मन में ज्यों साकार।
दे उन-प्रेम समाज को, बन प्रकाश उपकार।।०९१२।।

पुहुप बने, निस्स्वार्थ हो, दे अन को आनन्द।
सेवा को जो ले बना, जीवन-धर्म अछन्द[३]।।०९१३।।

पादप सहकर ताप भी, दे जीवों को छाँव।
तस बन प्रत्याशा बिना, पर-सहाय का ठाँव।।०९१४।।

१. जी-जीव, प्राणि; २. आहूत-अर्पित; ३. अछन्द-बिना किसी उद्देश्य या अभिप्राय के

सेवामय जीवन जिएँ, रख आदर्शाचार।
बलिदानी से पाव वे, अभिनन्दन सत्कार।।०९१५।।

निज सुख की चिन्ता बिना, करना पर-उपकार।
तापस सरिस विभूतियाँ, दे यह तपस् अपार।।०९१६।।

पर सेवा सहयोग की, करुणा तड़पन धार[१]।
ईश-भक्ति साँची यही, बनना कष्ट निबार।।०९१७।।

विभु की पूजा, भाव से, सेवा पर-उपकार।
डुबो नन्द में दे, करे, विभु सम नर व्यवहार।।०९१८।।

हरने को कठिनाइयाँ, सबकी करें प्रयास।
विश्व-प्राण में भर सके, जिससे सुख उल्लास।।०९१९।।

भोगों नहिं भगवान् का, हूँ, कर निश्चय बुद्धि।
हो विराग सेवा तभी, कामहीन उर शुद्धि।।०९२०।।

श्रद्धा का है वस्तुतः, अर्थ आत्म-विश्वास।
किन्तु आत्म-विश्वास है, पाना विभु का पास[२]।।०९२१।।

जल से तन, मन सत्य से, हो सु-ज्ञान से केत[३]।
आत्मा उससे शुद्ध हो, दे जो सीख स्वचेत।।०९२२।।

निज-हित जग से याचना, करना कभी न लेश।
मात्र, सुने सम्मान दे, याचक को परमेश।।०९२३।।

---

१. धार-धारण कर; २. पास-समीपता; ३. केत-बुद्धि

हूँ आत्मा स्वीकारते, रहें पाप से दूर।
पर तन हूँ की मान्यता, स्वार्थ दोष दे क्रूर॥०९२४॥

पास न श्रद्धा ज्ञान है, मन भी नहीं अशंक।
उसको इह पर लोक में, मिले न सुख विभु-अंक[१]॥०९२५॥

दमित कर सके ज्ञान से, इच्छाएँ भय क्रोध।
आत्मा को सुनकर जिए, वह बल बोध पयोध॥०९२६॥

भले शक्ति कुछ न्यून हो, साधु न बन, डट जाय।
बने आत्म-बल ऐस का, नहीं कभी असहाय॥०९२७॥

आत्मा तन आनन्द में, मन हो सरल[२] सकार[३]।
बनें[४] जटिल मन, त्याग दें, अस रति[५] वृत्ति विचार॥०९२८॥

निज परिचय की वस्तुता[६], जब हो थापित[७] प्राप्त।
लालसाएँ सब लुप्त हों, जग-रति आस समाप्त॥०९२९॥

यदि एषाओं की रहे, आत्मा पहरेदार।
तब मानव मन पा सके, नन्दन, शक्ति अपार॥०९३०॥

कर गुरुजन भगवान को, नमन सुरत से नित्य।
नमन 'न मन'[८] कर, दे सु-मन, विकस, प्रेम साहित्य[९]॥०९३१॥

होने पर मस्तिष्क में, विभु सब में, विश्वास।
परिणित हों कर्तव्य में, जग प्रति शुभ कृति[१०] यास[११]॥०९३२॥

---

१. अंक-गोद; २. सरल-ईमानदार; ३. सकार-सकारात्मक; ४. बनें-बनाते हैं; ५. रति-आसक्ति; ६. वस्तुता-सत्यता; ७. थापित-स्थापित; ८. न मन-मन रहित; ९. साहित्य-संयोग; १०. कृति-कर्म; ११. यास-प्रयत्न, प्रयास

देखें दृष्टि यथार्थ से, जो जग गति रति[१] ढंग।
शोक हर्ष थिति में रहें, वे सम-भाव निसंग[२]॥०९३३॥

जग गति जिसकी दृष्टि में, एक मरीचि[३] समान।
वही भरा सन्तोष से, कर्मों में भगवान्॥०९३४॥

उरस्, प्रेम आधार है, मनस्, सत्य आधार।
प्रेम अपनपन-युक्त है, पर सत् है कटु-सार॥०९३५॥

प्रेम अहम् को संकुचे, सत् दे निर्भय दान।
मौन क्रोध को ले पचा, धर्महि नर का मान॥०९३६॥

प्रेम अपनपन-भावना, ऐक्य निष्ठ विदमान।
लगें न उन प्रति कार्य भी, बोझिल भले पहान[४]॥०९३७॥

तज फल इच्छा, कर्म में, वृत्ति, प्रेम की प्रेर[५]।
पर है स्वतः कृतार्थता[६], प्रेम-प्रयोजन, हेर[७]॥०९३८॥

क्रोध तजे मद को नसे, सब बन्धन दे काट।
किन्तु प्रेम सबसे, मिलें, अस को दुखद न बाट[८]॥०९३९॥

आदर्शों से प्रेम ही, ज्वलित दीप इक मात्र।
जिस प्रकाश में बन सकें, जन-प्रिय सज्जन पात्र॥०९४०॥

सत्-वादी थित धर्म में, शीलवान विद्वान।
निज कर्मोंरत को मिले, जगत् प्यार सम्मान॥०९४१॥

---

१. रति-आसक्ति; २. निसंग-निर्लिप्त; ३. मरीचि-दृष्टि-भ्रम;
४. पहान-पहाड़, दुष्कर, बहुत कठिन; ५. प्रेर-प्रेरित कर;
६. कृतार्थता-सन्तुष्टि; ७. हेर-निरखना; ८. बाट-रास्ता

जन जन जिसकी कीर्ति का, करता पावन गान।
रहे प्रतिष्ठित लोक में, वह वैकुष्ठ समान॥०९४२॥

गढ़े स्वर्ग सौन्दर्य का, भू पर दय अपनत्व।
मूल्य ऋद्ध हों, आपसी, तब उर उगे समत्व॥०९४३॥

मौन नम्रता धीरता, संयम क्षमा विवेक।
सहनशीलता प्रेम से, नसे क्रोध उद्रेक॥०९४४॥

संस्कृति की संजीवनी, जन-जीवन का स्वर्ग।
मनुज-धर्म सौहार्द[१] का, अपना बना निसर्ग[२]॥०९४५॥

लेना परिमित अन्य से, देना अधिक अपार।
जीवन में इस वृत्ति से, रहे शान्ति सुख सार[३]॥०९४६॥

कलह स्वार्थ कलि[४] तज पढ़े, पवित प्रेम का पाठ।
सुख का सतयुग आ बने, उस मन की तब साठ॥०९४७॥

शिव कर दे जग-शोभ को, खिलने में सहयोग।
तब जग-मुद[५] देगा तुझे, उर-सुख बिन उद्योग॥०९४८॥

करने से मिलता नहीं, दुख, कर अन-कल्याण।
मिल भी जाये तो भरे, उर में सुखमय प्राण॥०९४९॥

मन मन सब पायें कहो, निरत[६] शान्ति आनन्द।
तब जग[७] पर-सुख भावना, करती कर्म सुखन्द[८]॥०९५०॥

---

१. सौहार्द-हृदय की सरलता; २. निसर्ग-स्वभाव; ३. सार-अमृत
४. कलि-पाप बुद्धि; ५. मुद-हर्ष; ६. निरत-निरन्तर; ७. जग-जागकर;
८. सुखन्द-सुख देने वाले

झिझके मन लज्जा लगे, दे जो भय अनुताप।
कर्म भले ही लाभ का, करें न, है वह पाप॥०९५१॥

हित सदैव, स्वीकार लें, निज भूलें अपकार।
तब मन सजग सुचेत हो, जीवन थिर अविकार॥०९५२॥

रख विनम्र मंगल दया, कर उपकार सहाय।
तोष शान्ति प्रसन्नता, तब उर नन्द[१] समाय॥०८५३॥

घिन असुरों की सम्पदा, सुर का प्रेम स्वभाव।
मानवता का चिन्ह है, सहना क्षमा-निभाव[२]॥०८५४॥

की भूलों पर स्वयम् को, क्षमा करें नित आप।
तस अन्यों को भी करें, सहकर सब उत्ताप[३]॥०९५५॥

ढूँढ हटाये दोष को, कर संकल्प प्रगाढ़।
यह प्रतिमान समाज को, देता उज्ज्वल ठाढ़[४]॥०९५६॥

सर्व-मोह तज वासना, कायरता आलस्य।
उन्नति में बाधा न हो, रच अस सामञ्जस्य॥०९५७॥

हितकर शुभकर अन्य को, बनना, सन्त स्वभाव।
मन-जड़ता हटती, बढ़े, तब जग-सत् प्रति चाव[५]॥०९५८॥

अहित कभी नहिं सोचिए, करिए पर-उपकार।
तब डूबें आनन्द में, हो श्री-वृद्धि अपार॥०९५९॥

---

१. नन्द-आनन्द; २. निभाव-रक्षा, पालन, पूर्ति; ३. उत्ताप-क्षोभ, दुख, क्लेश; ४. ठाढ़-शक्ति; ५. चाव-प्रेम, रुचि, अनुराग

स्वार्थ और परमार्थ का, करें समन्वय आप।
तब ही मनुज समाज को, प्रगति ऋद्धि हो प्राप॥०९६०॥

मुख पसरे[१] निस्तेजता, सुर में भरे भुलाव[२]।
बचे[३] आँख पर-आँख से, तज वह मन का भाव॥०९६१॥

दृढ़ता रखे विचार में, करे बड़ों का मान।
बन उदार मृदु बोलता, वह प्रिय, सर्व-समान॥०९६२॥

घर समाज संसार की, कर सेवा बिन एष।
राग मिटे फलतः रहे, प्रेम शान्ति मन शेष॥०९६३॥

रखें पतन से जूझ का, अपना दृढ संकल्प।
वही मनस्वी पा सकें, उन्नतिशील विकल्प॥०९६४॥

तमा[४] घना घन ना करे, करे ओज-रवि झीन[५]।
बहुत बुरा है नीक[६] का, होना साहसहीन॥०९६५॥

ऊँचा उठने की रखें, दूरदर्शिता सोच।
बनें महामानव, भले, पावें लख[७] पथ-दोच[८]॥०९६६॥

कष्टों में उसके बनें, रक्षक दानु[९] सहार।
उस पल पात्र कुपात्र का, करें न लेश विचार॥०९६७॥

गूँगा निन्दा कर्म में, धन हर[१०] में जो पंग[११]।
कुत्स-दृष्टि में अन्ध के, सर्व-प्रेम हो संग॥०९६८॥

---

१. पसरे-फैलाता है; २. भुलाव-धोखा; ३. बचे-बचाता है;
४. तमा-रात; ५. झीन-निर्बल; ६. नीक-भला आदमी;
७. लख-लाख; ८. दोच-संकट, क्लेश; ९. दानु-दाता;
१०. हर-हरण; ११. पंग-पंगु

स्वात्म-धर्म भी, ग्राह्य भी, न्यायिक भी कर्तव्य।
सबके सुख कल्याण का, सो रच रख मनतव्य॥०९६९॥

थिति कैसी भी हों, रहें, हुलसे शान्त सचेष्ट।
है जीवन साफल्य को, इतना मन्त्र यथेष्ट॥०९७०॥

आराधन जन जीव का, बना इष्ट निज-साध।
नर को यह तप क्योंकि दे, ऋषि मुनियों का गाध[१]॥०९७१॥

सत्य सहजता[२] ही जिए, होकर रहित विकार।
स्वतः दृष्टि[३] में सर्जता, तब गो[४] ले साकार[५]॥०९७२॥

नहिं निराश होना कभी, विफल भले हों यास।
धैर्यवान श्रम की रहे, सदा सफलता दास॥०९७३॥

जो नहिं अपने मानवी, बेचें सद्गुण शील।
वे समाज इतिहास में, रहें पूज्य, बन श्लील॥०९७४॥

बनकर जीव निसर्ग के, प्रति जो रहें दयाल।
जीते वे आनन्द में, ज्यों त्रिलोक भूपाल॥०९७५॥

यदि मन में परिशुद्धता, हो उर दया उदार।
तब समग्र मस्तिष्क ही, बने सृष्टि को[६] प्यार॥०९७६॥

जग मंगल हित वृत्ति ही, है नर-जन्म अभीष्ट।
निज गुण कर्म स्वभाव को, सो रच, कर उत्कृष्ट॥०९७७॥

---

१. गाध-स्थान; २. सहजता-प्राकृतिक स्वभाव; ३. दृष्टि-दृष्टिकोण; ४. गो-स्वर्ग; ५. साकार-आकार प्राप्त कर लेना; ६. को-के लिए

करें, शक्ति-भर यत्न से, पूर्ण, दिया विश्वास।
मानवता को मिल सके, तब चेतन आभास॥०९७८॥

मन प्रसन्न थिर-बुद्धि हो, सम-चित वृत्ति अशिष्य[१]।
अर्जन में, विश्वास से, उज्ज्वल बने भविष्य॥०९७९॥

जीवन मोती ओस का, ढलते लगे न बेर।
अतः प्राणदा प्राण को, प्रतिपल मन से टेर॥०९८०॥

सामञ्जस्य सहिष्णुता, हैं अति क्षमतावान।
कर निरस्त विघटन, बढ़े[२], भायत[३] ऐक्य[४] समान[५]॥०९८१॥

स्वगत[६] ज्ञान-विश्वास हो, देह नहीं मैं आत्म।
जड़ चेतन सम्पूर्ण में, तभी दिपें परमात्म॥०९८२॥

क्षीण-कल्मषी, स्वयम् के, वश में, संशयहीन।
परम-शान्ति को प्राप हों, सर्व-जीव-हित लीन॥०९८३॥

रहे भविष निर्माण में, वर्तमान का योग।
श्रेष्ठ करें सो जब करें, दे जो शुभ सहयोग॥०९८४॥

परख दोष-गुण दृष्टि से, प्रति दिन निज व्यवहार।
अपने द्वारा कर सके, तब अपना उद्धार॥०९८५॥

रहे सुशासन राष्ट्र में, सुखता अडिग स्वराज्य।
जन गण रखें मनुष्यता, जब आपस[७] अविभाज्य॥०९८६॥

---

१. अशिष्य-अहिंस, अक्रोध; २. बढ़े-बढ़ाता है; ३. भायत-बन्धुत्व;
४. ऐक्य-एकता; ५. समान-समता; ६. स्वगत-अपने से अपने प्रति;
७. आपस-परस्पर के सम्बन्ध

सजग-दृष्टि सुख-स्रोत

जग है ईश्वर एक का, प्रकट रूप विस्तार।
सो इक है नर जाति भी, जीवन भाई-चार॥०९८७॥

जीवन का नहिं वस्तुतः, वैभव में आनन्द।
चित्त-हर्ष, सत्कर्म का, वरन् नन्द मकरन्द॥०९८८॥

सत् का जन[१], सज्जन सखे, मात्र सत्य भगवान्।
सत्य धर्म हित लड़ सके, सो सज्जन श्री-मान॥०९८९॥

जिस भी कर्म विचार में, निहित रहे शिव-तत्त्व।
वही सर्वदा सत्य का, रखता मौलिक सत्त्व॥०९९०॥

'दर्शन' यह उर में धरें, जीवन नहिं उपभोग।
है यह व्यष्टि समष्टि के, हेतु वरन् उपयोग॥०९९१॥

मूल्यादर्श मनुष्यता, नैतिकता संस्कार।
सब अभिन्न, नर हेतु हैं, उज्ज्वल भवि आधार॥०९९२॥

निज अनुभव की कोख से, ज्ञान उदित हो जोय।
करे प्रकाशित स्वयम् को, आलोकित जग होय॥०९९३॥

सेवा, दृष्टि विवेक की, दया अहिन्सा न्याय।
सत् चरित्र जहँ भी रहे, सुख - मुद वहाँ समाय॥०९९४॥

---

१. जन-दास

है सुवृत्ति सद्भावना, सद्गुण नर पाथेय।
क्योंकि हेतु उत्कर्ष का, सत्स्वभाव, सो ध्येय॥०९९५॥

पारदर्शिता कर्म की, अपनाना ही स्वर्ग।
अपनापन विस्तार ले, इति हो भेद विसर्ग[१]॥०९९६॥

देखें सीमित स्वप्न ही, रखते व्यस्त प्रयास।
उन उत्तम मन्तव्य की, रहे सफलता दास॥०९९७॥

लगे उमगने अन्य का, करुणा भरा प्रवाह।
अस शैली दिव्यत्व की, कर्मों में निर्वाह॥०९९८॥

सिखला सकें दयालुता, दुख-मन दरिद उदास।
दुख सहना पर-हेतु दे, पर चिर-सत् का पास॥०९९९॥

आता घन पवमान से, जाता भी अन्यत्र।
तस मन दे जग-बन्ध भी, बने मुक्ति का पत्र[२]॥१०००॥

मूल्य रक्ष हित क्या किया, हुआ न क्यों प्रतिबद्ध।
जब कि सुजीवन से करें, हमें मूल्य आबद्ध[३]॥१००१॥

निज विवेचना का रखें, समझ सुतर्क अधार।
मन-अनियन्त्रण को मिलें, तब संस्कृत परिहार॥१००२॥

गह![४] विधान[५] जो पोषते, सत्-जीवन की आश।
किन्तु त्याज्य वे जो करें, सन्तत ह्रास विनाश॥१००३॥

---

१. विसर्ग-पार्थक्य; २. पत्र-वाहन; ३. आबद्ध-निर्मित; ४. गह-ग्रहण कर; ५. विधान-काम के ढंग, साधन, व्यवस्था

है सुगन्ध सत्कर्म में, जग को रुचिर, बटोर।
पर दुष्कर्म कुवास हैं, घृणित बनायें, छोर[१]॥१००४॥

अथिर भौत-जीवन, न दे, सुख, जब हो सम्वेद[२]।
अथ सत्-जीवन का करे, उस पल से, यह भेद[३]॥१००५॥

पुण्य मित्र यश ना मिलें, यदि मिथु करनी बोल।
कर्म-पाक[४] सो सर्वदा, दूर-दृष्टि से तोल॥१००६॥

निज क्षमता के यास से, प्राप हुआ परिणाम।
शिरोधार्य कर, और की, ढूँढ न दय का ठाम[५]॥१००७॥

बनकर ज्योति विकास की, निज अनुभव से सीख।
दिव्य मन्त्र उत्कर्ष का, यही सहज उर दीख[६]॥१००८॥

समझा, रखकर नम्रता, निज सद् कर्म विचार।
किन्तु तुरत उत्साह से, कर भूलें स्वीकार॥१००९॥

लघु सी भूलें भी नहीं, भूलें, लोग महान।
उर से पछतावा करें, समय समय, तज मान॥१०१०॥

दुख, अन्धड़ से तेज हो, आता करने नाश।
किन्तु धराधर[७] बन रहे[८], पाता पथिन् प्रकाश[९]॥१०११॥

क्यों डरना कह स्वयम् से, हो जब उर आभास।
उर साहस सौ हो करे, भय-मन का निर्वास[१०]॥१०१२॥

---

१. छोर-छोड़ना; २. सम्वेद-अनुभूति; ३. भेद-रहस्य; ४. पाक-परिणाम; ५. ठाम-आश्रय; ६. दीख-दृष्टि; ७. धराधर- पहाड़; ८. बन रहे-बनकर रहता है; ९. प्रकाश-विकास, प्रसिद्धि; १०. निर्वास-निर्वासन

समालोचना मन्त्रणा, दे सच्ची फटकार।
सजग संकटों से करे, उसे मान दें प्यार॥१०१३॥

कोई भी दे झिड़कियाँ, करने पर अपकार[१]।
है शुभेच्छु वह चाहता, अघ से तव छुटकार॥१०१४॥

समझे दुख सन्ताप को, जो जीवन में शाप।
वह कदापि नहिं पा सके, विक्रम[२] शौर्य[३] प्रताप[४]॥१०१५॥

जाति जन्म की दीठ से, सब हैं एक समान।
वर्ण, कर्म अनुसार, जो, शक्य करे पहिचान॥१०१६॥

कहें लिखें थोड़ा, रखें, सीमा में अवलोक।
तब थोथे[५] अकुलीन का, दिया बच सके शोक॥१०१७॥

पर-दुख में सुख मानता, अरु सुख में कुढ़ जाय।
मान-प्रतिष्ठा स्वयम् की, अस नर रख नहिं पाय॥१०१८॥

शान्ति पुजारी दिख रहा, अन्दर कलह कलेश।
इसी ज्वाल में जल गयी, वयस्[६], न सुधरा लेश॥१०१९॥

जिसे सराहें, है वही, सद्गुण, दूजे लोग।
निज गुण-वाचन, ढोंग सा, लगे, तजें यह रोग॥१०२०॥

जग-सत्[७], सुख दें अन्य को, प्रत्युत सुख दें अन्य।
पर दुख पहुँचाना, बने, स्वयम् हेतु दुखजन्य॥१०२१॥

---

१. अपकार-नीच कर्म; २. विक्रम-स्थिरता, शक्ति; ३. शौर्य-वीरता, शूरता; ४. प्रताप-पौरुष, तेज; ५. थोथे-निरर्थक; ६. वयस्-आयु; ७. जग-सत्-सत्य को जगाकर

व्यतिरेकों का सामना, कर हो क्रमिक विकास।
सो निज चिन्तन में रखें, सर्व-शुभम् हित यास॥१०२२॥

अन के गुण ग्राही बनें, तजें छिद्र अन्वेष[1]।
अस करनी से स्वयम् में, अवगुण रहें न शेष॥१०२३॥

भले हान त्रासद मिले, जिसके भाव उछाह।
उसके ही पैरों तले, ऊँचाई की थाह॥१०२४॥

चरण प्रथम उत्थान का, सबल आत्म-विश्वास।
ध्रुव-निश्चय श्रमशीलता, तब रचते इतिहास॥१०२५॥

कठिनाई, नैराश्य का, है द्योतक परिणाम।
जगे-आत्मविश्वास से, न तु कुछ कठिन न काम॥१०२६॥

करते सात्विक भाव से, रखते नहिं मन हीन।
यह सद्कर्म विधान है, यही विनय विभु-लीन॥१०२७॥

बनता जीवन देवता, दे जब हटा कषाय।
आत्म जागरण है यही, निज से मिलन उपाय॥१०२८॥

मानव जीवन ईश का, सर्वश्रेष्ठ वरदान।
सोच! लक्ष्य क्या भोग है, या कि आत्म-पहिचान॥१०२९॥

कहीं न बाहर, शान्ति का, है अन्तस भण्डार।
अनुभव हो तब, जो ढके, हटा सके भवभार॥१०३०॥

१. अन्वेष-अन्वेषण, खोज

चिन्तन की उत्कृष्टता, कर्मों में निर्मल्य।
उरस् आत्मबल ऊर्ज को, करें समर्थ सबल्य॥१०३१॥

शक्ति, आत्मबल है करे, निज अन्तः को व्यक्त।
दशा नहीं बल-आत्म का, सो है, बली, अशक्त॥१०३२॥

उचित न, कथनी और की, पर करना विश्वास।
वरन् उचित निज-चेष्ट से, करना स्वात्म उजास॥१०३३॥

लाभ जय अजय हानि में, चिन्ता नहिं उपयुक्त।
फल विभु-कर में क्योंकि है, नर-कर में कृति[1] शुक्त[2]॥१०३४॥

षड्विकार के वश्य हो, रहे चित्त परतन्त्र।
आत्म-मथन तब दे सके, धर्म-चेत सद्-मन्त्र[3]॥१०३५॥

सुर-संस्कृति देवत्व से, आत्मा रहे सलग्न[4]।
कर्म हेतु सत्पन्थ दे, सुन इसकी, हो मग्न[5]॥१०३६॥

आत्मा का अनुभूत हो, प्रतिपल यदि सञ्चार।
सुगम सहज सुखदा बहे, तब जीवन की धार॥१०३७॥

सत् कृत[6] मन-बल धीरता, आत्मशक्ति उत्साह।
अपना, ऊर्जा स्रोत हैं, अन[7] का करना लाह[8]॥१०३८॥

धरती पर प्रत्येक के, सँग होना एकात्म।
परम संग जीता तभी, एक रूप हो स्वात्म॥१०३९॥

---

१. कृति-क्रिया; २. शुक्त-पवित्र; ३. मन्त्र-मन्त्रणा; ४. सलग्न-जुड़ा हुआ; ५. मग्न-तल्लीन; ६. कृत-उपकार; ७. अन-अन्य ८. लाह-लाभ

निस्सृत चेतन शक्ति से, बिँधा सभी इक तार।
उगे पौध घिन द्वेष की, यदि यह तजें विचार॥१०४०॥

सुखों हेतु उलझा नहीं, जीवन, कर[1] दुष्कर्म।
वरन् स्वात्म-गो[2] जी, रखे, जो कि प्रेममय शर्म[3]॥१०४१॥

जीने का सम्मान से, है इक अटल उपाय।
जो दिखना चाहें, रखें, तस मन-उरस् बनाय॥१०४२॥

अगणित दशा अ-ज्ञात से, होता फल निर्धार।
भली-भाँति कर सोंप दे, प्रभु पर सो फल-भार॥१०४३॥

साहस, जग-मम मुक्ति का, व्रत, मन हो अविकार।
विभु प्रतीति, सत्कर्म में, जीवन हो साकार[4]॥१०४४॥

सत् से पथ प्रारम्भ, हों, लिए जीव चित् कान्ति।
तब होकर आनन्द में, पाव परममय शान्ति॥१०४५॥

इति भोगेषण हो गई, रही न मन अभिलास।
करते पण्डित[5] बुद्धि के, अन्तः में विभु वास॥१०४६॥

जीत बुराई की कभी, नहीं सफलता मित्र।
मन की भ्रामक तुष्टि है, यह जीवन अपवित्र॥१०४७॥

निज पापों की ओर से, आँखें लेना मूँद।
करता क्रूर जघन्य, दे, दय करुणा को रूँद[6]॥१०४८॥

---

१. कर-करके; २. गो-वाणी; ३. शर्म-सुख; ४. साकार-सुन्दर;
५. पण्डित-विवेक बुद्धि युक्त; ६. रूँद-रुँदना, रौंदना

पीछा पापी का करे, किया उसी का पाप।
तब झुलसाये आग सा, अन्तस का धिक्[1] शाप॥१०४९॥

ओछे भाव स्वभाव को, रखें समझ सौभाग।
मरघट सी उन चित्त में, रहे सुलगती आग॥१०५०॥

अन्धड़ पादप खोखले, जस दे फेंक उखाड़।
तस अघ आलस मूर्खता, जीवन करें उजाड़॥१०५१॥

रखना नीच विचार का, एक भयाव अनिष्ट।
नष्ट-भ्रष्ट कर डालता, जैस भले विष मिष्ट॥१०५२॥

एक कीट ही दूध में, कर दे उसे अभक्ष्य।
तस इक दुर्गुण से नसें, अन्तः नर-गुण लक्ष्य[2]॥१०५३॥

जग में दुर्जन से बड़ा, नहीं दया का पात्र।
तम को, जीवों में वही, क्योंकि जी रहा मात्र॥१०५४॥

अपने सुख आनन्द को, अन पर अत्याचार।
अनय हनन छल वृत्ति को, पोषे, तुरत बिसार॥१०५५॥

परे न्याय औचित्य से, करना, दमन प्रतीक।
क्षति नर सृष्टि समाज को, दे, सो न कर अभीक[3]॥१०५६॥

तम तब ही पसरे, बने, सूरज ही निस्तेज।
तस दुर्जन नर-क्लीव को, दुख दे अघ-तम भेज॥१०५७॥

१. धिक्-धिक्कार; २. लक्ष्य-लाख; ३. अभीक-क्रूर

होता देख अनर्थ को, जन्मे जिसमें रोष।
है वह पुरुष यथार्थ में, जिसमें शूर विदोष[1]॥१०५८॥

बने आज की साधना, उज्ज्वल सफल भविष्य।
लक्ष्य ओर बढ़ सो पगा[2], किन्तु बिना अघ शिष्य[3]॥१०५९॥

जहाँ मिलें अच्छाइयाँ, स्वीकारें तत्काल।
पक्ष न लें, अघ त्याग दें, तब हो सकें हिमाल[4]॥१०६०॥

अभी, सुपथ चुन चल पड़े, जो हो चिन्ता मुक्त।
पाता वह जीवन अभय, हर्ष नन्द से युक्त॥१०६१॥

भूल अनर्थ बुराइयाँ, जिसके रहें न पास।
टिक जीवन-सत् में गया, समझें वह विश्वास॥१०६२॥

ढालेंगे जिस रूप में, स्वको, मिलें तस भोग।
पर-दुख दे से दुख मिले, सुख से सुख संयोग॥१०६३॥

न कर कामना वासना, भोग-वृत्ति अनुसार।
नहिं तो आत्मा का दबे, सत् स्वभाव व्यवहार॥१०६४॥

परिष्कार-बिन पूर्णता, मिले न विभु का प्रेम।
विषय कलुष मन-धर्म से, इति-का[5] सो कर नेम[6]॥१०६५॥

हो यदि इन्द्रिय एक भी, पाप दोष संयुक्त।
बुद्धि टपक हो बाहरी, जड़ सम ज्ञान प्रयुक्त॥१०६६॥

---

१. विदोष-निर्दोष; २. पगा-डग; ३. शिष्य-हिंसा; ४. हिमाल-हिमालय जैसा ऊँचा; ५. इति-का-समाप्त करने का; ६. नेम- व्रत

रहते सुविधा-पूर्ति में, वैभव और विलास।
जब तक मैं तन हूँ रहे, उसका दृढ़ विश्वास॥१०६७॥

दुख अशान्ति में ही रहे, नित्य भोगरत जोय।
रहें दास यदि इन्द्रियाँ, अचल बुद्धि तब होय॥१०६८॥

दे सब अगुण स्वभाव के, देह विषय हंकार।
चर्चा न कर कुसंग से, नसती अन्तः नार[1]॥१०६९॥

मर्यादाएँ रोंदता, हो विषयी निर्लाज।
जिए हेय बन, तोड़ता, उससे नात समाज॥१०७०॥

लगन आत्म-बल प्रेरणा, लक्ष्य-भेद हों नास।
दीमक उन्नति के लिये, आलस ढील[2] विलास॥१०७१॥

मिले विजय प्रत्येक को, सुमति प्रगति रख चाह।
जो कि सुमंगल हो सके, हटा तमस् जग दाह॥१०७२॥

होना जैसा चाहते, बनते भी तस ठीक।
इच्छा से सब प्राप हो, सो कर अच्छा नीक॥१०७३॥

कामनाओं को जोड़ना, भावनाओं के साथ।
जीवन तब ही हो सके, सत्कृत[3] सार्थ सनाथ[4]॥१०७४॥

लड़े सहे संग्राम में, रक्तपात गम्भीर।
जीते पर जो इन्द्रियाँ, वह सर्वोत्तम वीर॥१०७५॥

१.नार- नर सम्बन्धी विशेषताएँ; २. ढील-शिथिलता, प्रमाद;
३. सत्कृत-पूजित; ४. सनाथ-सफल मनोरथ

रखे श्रद्ध, मन-इन्द्रियाँ, नहीं अवश दिग-भ्रान्ति।
ज्ञान पा सके, अन्ततः, मिले उसी को शान्ति॥१०७६॥

रहें नियन्त्रित इन्द्रियाँ, मन धी के व्यवहार।
न्याय-भाव सम सब तई, नर वह, वही उकार[1]॥१०७७॥

पिछड़े को सहयोग दे, गिरे हुए को हाथ।
भटके को पथ-कोत[2] दे, सच! वह तन-धर नाथ॥१०७८॥

विभु से नहिं, अपकृत्य के, परिणामों से भीत।
षड्विकार की ग्रस्त से, मुक्ति शक्य तब मीत॥१०७९॥

लाता घोर दरिद्रता, ले जाता ऐश्वर्य।
नीरस जीवन को बने, आलस वह आश्चर्य॥१०८०॥

कभी किसी के कर नहीं, तिनके का भी लोभ।
आते ही आचार में, बने तोष चित-शोभ॥१०८१॥

जान गया, उसको दिये, उसके-पग जो हान।
नहिं सुधार फिर भी करे, लोभी मूर्ख पुमान॥१०८२॥

अन की लख सम्पन्नता, कुढ़े, नसे निज शान्ति।
तज, यह हिन्सक वृत्ति दे, मन को न तु थिर क्लान्ति॥१०८३॥

द्वेषण[3] ईर्ष्याभाव से, नहिं कर दोषारोप।
न तु घेरे नैराश्य, हो, सोच सकारी लोप॥१०८४॥

---

१. उकार-शिव, भगवान्; २. कोत-दिशा;
३. द्वेषण- घृणा, शत्रुता

जीवन-लक्ष्य यथार्थ से, होने नहिं दें लाग[1]।
कामज[2] क्रोधज[3] जो सभी, व्यसन, यतन कर त्याग॥१०८५॥

पी ले अपने क्रोध को, न दे किसी को पीर।
बरस न अन पर, की भले, भूल असह गम्भीर॥१०८६॥

स्वस्थ होड़ की भावना, श्रेष्ठ लक्ष्य से युक्त।
जिस मन में बसती, वही, रहता ईर्ष्या-मुक्त॥१०८७॥

क्रोध प्रेम से, दुष्टता, भले-कर्म से जीत।
टिके न मिथु सत् सामने, पर हो सत्य विनीत॥१०८८॥

अहम् क्रोध रोके रखे, रहे विपद् में धीर।
उस पर श्री वर्षा रहे, तब जब हो श्रमवीर॥१०८९॥

क्रोध करे अन्याय से, सहे न पर-अपमान।
पुरुष वही जो अन्य के, दे सुगुणों पर ध्यान॥१०९०॥

रखे प्रयोजन सिद्धि की, लगन, सतत् हों यास।
कुछ बिगाड़ पाते नहीं, उसका रोधी-गास[4]॥१०९१॥

मैं मेरा के रूप में, तृष्णा ही विदमान।
बने अहम्ता लोभ में, सो नर-जन्म विमान[5]॥१०९२॥

और अधिक की लालसा, यदि मन रखी सँजोय।
पूर्ण, सत्य श्रम बुद्धि से, कर, अघ सभी विछोय[6]॥१०९३॥

---

१. लाग-लगाव; २. कामज-काम से उत्पन्न; ३. क्रोधज-क्रोध से जन्मा; ४. रोधी-गास-विरोधी संकट; ५. विमान-असम्मानित; ६. विछोय-विच्छेद करके

मिलें शक्ति साधन, तजे, विभु में नर, विश्वास।
ढोंग स्वार्थ हंकार के, तब घेरें अघ रास[१]॥१०९४॥

बड़ा बने उसको नहीं, समझे बड़ा समाज।
पर वह बड़, निज मान के, सतत् करे जो काज॥१०९५॥

सरस स्रोत आनन्द है, दुख नहिं है संसार।
स्वार्थ वृत्तियाँ ही करें, मात्र इसे दुखकार॥१०९६॥

जाग्रत अनुशासित रहे, उर सम्वेदनशील।
स्वार्थी स्वार्थी ही रहे, क्योंकि स्वार्थ ले लील॥१०९७॥

जितनी मनस् मलीनता, रखते स्वार्थ नितान्त।
जीवन संकट व्याधियाँ, उतने हों दुर्दान्त॥१०९८॥

बने कषायी स्वार्थी, चिन्तन से, नर हीन।
दुष्कर्मी रहते अतः, दुख सन्त्रास अधीन॥१०९९॥

यश के रक्षण में करें, धन के नहिं पुरुषार्थ।
बना हीन जन-दृष्टि में, न तु दे यह धन-स्वार्थ॥११००॥

इक ही जग-उत्थान में, झञ्झट कारण, स्वार्थ।
ध्वन्सक झञ्झट, सो करें, मन को मोड़ परार्थ॥११०१॥

मूल्यादर्शों में बिधें, वाणी कर्म विचार।
कर्म सहज[२] होने लगें, तब हटता हंकार॥११०२॥

---

१. रास-विलास, लम्पटता; २. सहज-स्वाभाविक

गिरना नहिं, फिर भी उठे, है विस्मय की बात।
क्योंकि भले पथ में बिछे, जग प्रलोभ लख-घात॥११०३॥

प्राप हो न हो, में नहीं, तनि[१] भी जिसकी सक्ति[२]।
'जो है' में उसकी रहे, मुक्त नन्दमय[३] व्यक्ति[४]॥११०५॥

क्या करना, क्या क्या नहीं, हो नहिं द्वन्द्व समाप्त।
बँधे न इनसे, त्याग से, विरत-वृत्ति यदि प्राप्त॥११०५॥

प्राणी से सम्पृक्त[५] हैं, काम क्षुधा दुख प्यास।
लख! जीवन पुरुषार्थ है, थिति ये दें विश्वास॥११०६॥

छद्म जला[६], जो लक्ष्य के, रहें भक्त, मन-धीर।
ओढ़ें कभी न वञ्चना, मुख पर अस श्रमवीर॥११०७॥

आशा आस्था कर्म में, अन्तस में विभु साथ।
लक्ष्यपूर्ण पुरुषार्थ से, शुभ फल मिलें अकाथ॥११०८॥

श्रमी, कुशल व्यवहार में, मिलनसार शालीन।
रखते निज परिवेश को, स्वर्गिक सर्व-सुखीन[७]॥११०९॥

ठीक उसी अनुपात में, बनता मनुज महान।
श्रम उसका जितना करे, मनुज-मात्र कल्यान॥१११०॥

लोहा-तप्त अधीरता, नसे विवेक विचार।
निर्णय, वानर से रखे, उछल-कूद व्यवहार॥११११॥

---

१. तनि-अल्पतम; २. सक्ति-आसक्ति; ३. नन्दमय-आनन्दमय;
४. व्यक्ति-अभिव्यक्ति; ५. सम्पृक्त-जुड़ी हुई; ६. जला-जलाकर;
७. सुखीन-सुख-युक्त

जीवन-मणि है धीरता, रहकर सजग सँवार।
भारी पड़ता अन्यथा, सम्मुख का प्रतिहार[१]॥१११२॥

रखे धैर्य, पुरुषार्थ से, यदि सम्बन्ध अभिन्न[२]।
लक्ष्य पास आने लगे, हो उर उमग अखिन्न[३]॥१११३॥

अजय विफलताएँ सदा, जय-फल का अवचार।
कर्म साहसी सो नहीं, तज, कर बिन भय वार[४]॥१११४॥

सचमुच जीवन-पन्थ के, साहस आशा दीप।
अपना सो गुण-योग्य का, प्रेम सुसंग समीप॥१११५॥

नहिं उत्साह विवेक के, सम्मुख कुछ दुस्साध्य।
मात्र अभय संकल्प को, रखें अचल आराध्य॥१११६॥

इन्द्रिय-संयम भोग में, ब्रह्मचर्य का अर्थ।
कर पालन सो क्योंकि दे, संयम, मनुज-समर्थ॥१११७॥

मन-संयम कर्तव्य हैं, भक्ति भाव के कूल।
कर, पर-शिव उपकार, हैं, प्रभु को अर्पित फूल॥१११८॥

मन का नियमन[५] कर लिया, बनता वही अजेय।
सो निज अभल स्वभाव को, शोध! पा सके श्रेय॥१११९॥

संयम से रख, कोप से, अपना बचा शरीर।
सदाचार से, लक्ष्य था, पायेगा वह तीर[६]॥११२०॥

---

१. प्रतिहार-निवारण; २. अभिन्न-अविभक्त; ३. अखिन्न-प्रसन्न;
४. वार-रोक; ५. नियमन-निग्रह, अनुशासन में रखना; ६. तीर-किनारा,
तट

आत्म-भान संयम-सभी, अचल आत्म-विश्वास।
जीवन को दें सर्वदा, बल सम्बल दिव्यास॥११२१॥

मनस् शान्ति, परिवेश का, दे न सके बदलाव।
रोके वरन् विचार का, परिवर्तन, भटकाव॥११२२॥

बढ़े मनोबल, धीरता, बनकर सत्य विभाव[1]।
कर अनुगत[2] मन-शक्तियाँ, रोके उन बिखराव॥११२३॥

जितनी मन की ढालते, भ्रष्ट कोशिका देह।
उतना वैभव बुद्धि का, सकुचे, हो अस्नेह॥११२४॥

नहिं, कालुष्य विचारना, रच सकती अविकार।
निर्मित करते व्यक्ति को, क्योंकि मनस्थ विचार॥११२५॥

हैं कुविचार कुकर्म ही, अधोपतन के गन्तु[3]।
स्वार्थ द्वेष हिन्सा भरें, कर दें ज्यों वन जन्तु॥११२६॥

निज विचार को मानना, सर्वश्रेष्ठ भ्रमहीन।
अवसर उन्नति के छले, ले विवेक मति छीन॥११२७॥

कीच विचारों की बुरे, हरती मान प्रभाव।
पैठे भी निज वृत्ति में, रे! भय भीरु तनाव॥११२८॥

न हो प्रभावित निन्द से, चिन्तन रख समतोल।
सफल सुखी जीवन हिते, अपना, गुण सद्-बोल॥११२९॥

---

१. विभाव-मित्र; २. अनुगत-अनुकूल, उपयुक्त; ३. गन्तु-मार्ग

बड़ा नहीं है जो रखे, वैभव, धवला बाल।
पर बड़, कर्म विचार में, जो बड़ ऊँचा भाल॥११३०॥

करे गहन अनुभूति ही, चेतनता विस्तार।
जीवन-पग को बोध दे, चल नहिं, प्रथम विचार!॥११३१॥

कह, कर, सोच विवेक से, रख सत् की मर्याद।
दिव्य भावना भी जगे, हटे सभी यह साद[१]॥११३२॥

मात्र ध्यान से ही नहीं, सुन विवेक से तथ्य।
गहन दृष्टि तब कथ्य[२] के, दे मन्तव्य अकथ्य॥११३३॥

उलझन भय दूषण हटे, चित से मात्र विवेक।
सजग करे कर्तव्य को, चुन पथ तब दे एक॥११३४॥

कर्म, मनुजता के जनें, जिनके मूल्य अधार।
पर मूल्यों को जन्म दें, सद्चिन्तन सुविचार॥११३५॥

चिन्तन में प्रारम्भ हो, परहित हेतु विचार।
उस पल से होने लगे, स्वात्म सशक्त तुमार॥११३६॥

शान्ति विकास प्रसन्नता, निर्देशन निर्माण।
ध्रुव संकल्प विवेक से, शक्य सभी कल्याण॥११३७॥

सम्भव ज्ञान-प्रकाश से, सामाजिक उत्थान।
पर विवेक की ज्योति ही, नर की सत् पहिचान॥११३८॥

१. साद-अवसाद, दुख; २. कथ्य-कथानक

चित-शम धैर्य सुकर्म से, सामञ्जस्य निकाल।
है अन्तः कितना खरा, कसता आपद् काल॥११३९॥

विचल नहीं, कठिनाइयाँ, हैं जीवन का अंग।
लड़, उनसे ही सीख, हो, कैसे उनका संग॥११४०॥

हो विकास संघर्ष से, रुकती तभी अनीति।
मिथ्या से संघर्ष ही, सच में बढ़े प्रतीति[१]॥११४१॥

यश न कलंकित हो, भले, पड़ें गँवाने प्राण।
निर्भय हो संघर्ष में, रहते सो जग-त्राण॥११४२॥

जग-भर है अवधान में, चाह सुखद परिणाम।
उनें विदित हो, पा सके, उन्नति, तन्मय काम॥११४३॥

पर-छिद्रों की खोज में, नहिं कर व्यय निज शक्ति।
वरन् कर्म में लग, उठे, ऊँचा जो तुझ व्यक्ति॥११४४॥

जस उद्धत उन्मुक्त में, बसे न्याय प्रारूप।
कर्म-साध वैसी बने, वन्य कुरूप सुरूप॥११४५॥

रख नहिं कर्म विकर्म का, मन में झञ्झावात।
कर थितियों अनुसार जो, सम्यक्[२]-कर्म अपात[३]॥११४६॥

यश विभूतियाँ योग्यता, मौख-धर्म सब भर्म[४]।
मानव-मूल्याँकन करें, मात्र किये निज कर्म॥११४७॥

१. प्रतीति-विश्वास; २. सम्यक्-सर्वाधिक उपयुक्त; ३. अपात-जिसमें गिरने या नाश का भाव न हो; ४.भर्म-भ्रम

कर्म, व्यवस्थित यत्न से, करते यदि सम्पन्न।
करें सुनिश्चित हेतु[१], हों, सद्फल भी उत्पन्न॥११४८॥

सञ्चित कर्मों से सदा, प्रेरित होता जीव।
अत: कर्म ऐसे करें, जिन मर्यादित सींव[२]॥११४९॥

निज क्षमताएँ लब्धियाँ, अन को दें जो कल्प[३]।
आवश्यक[४] अपनी रखें, वे सम्वेदी[५] स्वल्प॥११५०॥

आलोचन की दीप्ति में, निज के कर्म निहार।
निकट करे देवत्व के, तब त्रुटि भूल सुधार॥११५१॥

जितनी अधिक प्रसन्नता, अन को दें निज कर्म।
उससे अधिक प्रसन्नता, पावे स्वयम् स्वधर्म[६]॥११५२॥

स्वाध्याय सत्संग हैं, आत्म-शान्ति हित मित्र।
अत: लक्ष्य कर! कर्म हों, निर्मल शुद्ध पवित्र॥११५३॥

करें कर्म, निष्कर्मता, भूभल[७] दहकी आग।
श्रम कर्मठता ही सृजे, आत्मिक तोष, सुहाग[८]॥११५४॥

हो उर्जित मन जो रखे, कर्म, भाव-निष्काम।
पवित प्रखर जीवन बने[९], भले विफल परिणाम॥११५५॥

जिसके कर्मों से मिले, सबको अकथानन्द।
पाव राष्ट्र अस सन्त से, पूज्य चरित-मकरन्द॥११५६॥

१. हेतु-उद्देश्य; २. सींव-सीमायें; ३. कल्प-सशक्त, योग्य;
४. आवश्यक-आवश्यकता; ५. सम्वेदी-सम्वेदनशील;
६. स्वधर्म-अपना कर्तव्य; ७. भूभल-गर्म राख दबी आग;
८. सुहाग-सौभाग्य; ९. बने-बनाता है

जीवन की अनिवार्यता, जीवन के पर्याय।
निरत रहें, कर्तव्य ही, होते जीवन धाय[१]॥११५७॥

वेदी पर कर्तव्य की, नहिं कुछ बली सरीख।
सुख-पूरक उर दे सके, क्योंकि मात्र यह दीख॥११५८॥

कर्तव्यों को मानना, नहीं विवशता भार।
क्योंकि यही वे लक्ष्य जो, दें जीवन को सार[२]॥११५९॥

कभी न बड़पन पाव को, आवश्यक अधिकार।
कर्तव्यों का पालना, वरन् स्वत: यशहार[३]॥११६०॥

कभी निभाते ही नहीं, यथा शक्ति दायित्व।
दैन्य उपेक्षा भोगते, बने[४] हीन व्यक्तित्व॥११६१॥

गरिमा मर्यादा रखें, पा पद-बल दायित्व।
न तु विलम्ब पाते न हो, पतन भ्रष्ट-स्वामित्व॥११६२॥

नहीं सफलता हर्ष दे, असफल दे नहिं क्लेश।
जिन कर्तव्य निभाव ही, है जीवन उद्देश्य॥११६३॥

चिन्तन में, कर्तव्य में, दृढ़ता भरें अपार।
दें अपूर्व[५], सामर्थ्य को, कर्तव्यों को धार॥११६४॥

धरम निभाना जीभ से, मात्र छलावा सभ्य।
पाठ न कर सत्-कर्म का, वरन् बना कर्तव्य॥११६५॥

---

१. धाय-उपमाता; २. सार-यथार्थता; ३. यशहार-यश ग्रहण करने वाला; ४. बने-बने हुए; ५. अपूर्व-अद्भुत

भूख प्यास तन की रहे, जब तक सुख दुख भान।
करें कर्म कर्तव्य का, साक्षी रख भगवान्॥११६६॥

चित्त परिष्कृत पालता[1], निष्ठा से कर्तव्य।
जाने तब, विभु नन्द का, इक-रस हो गन्तव्य॥११६७॥

निहित रहे कर्तव्य में, सम्भावित व्यक्तित्व।
निभा, अतः जो हो सके, गोचर-तोर मणित्व[2]॥११६८॥

अन्धी अधुना दौड़ में, रे! कर्तव्य न त्याग।
घर समाज में अन्यथा, हों दुख द्वेष विलाग[3]॥११६९॥

विषमताओं की कोख ही, जने दमन विद्रोह।
उर उर में समता भरे, किन्तु परस्पर छोह[4]॥११७०॥

नर ही समझे स्वयम् को, नहिं पद वैभव शक्ति।
रखता जग से जीव से, वही प्रेम अवसक्ति[5]॥११७१॥

प्रेम तर्क से सामना, करें, भले गम्भीर।
तव विवेक को छानता[6] क्रोधी, न बन अधीर॥११७२॥

प्रेम अहिंसा नम्रता, करुणा पवित-विचार।
निज तन अगों में करें, बल सुषमा[7] सञ्चार॥११७३॥

करुणा रक्षा, प्रेम है, देना, निहित विधान।
रखे प्रेम कारुण्य को, सो कर पर-कल्यान॥११७४॥

१. पालता-पालन करता है; २. मणित्व-श्रेष्ठता; ३. विलाग-अलगाव;
४. छोह-स्नेह, ममता, कृपा; ५. अवसक्ति-संलग्नता;
६. छानता-जाँच, परख करना; ७. सुषमा-सौन्दर्य

अस वैभव शालीनता, गुण गम्भीर विलोल[१]।
सब क्रय, जग सुख शान्ति भी, कर सकती बिन मोल॥११७५॥

विनय हृदय की सौम्यता, है श्रद्धा की केत[२]।
जो सत् जीवन की विधा, जीती, हो समवेत[३]॥११७६॥

आच्छादित जो भी करे, हैं जीवन आधार।
रखें प्रेम सौजन्य[४] का, सो उनसे आचार॥११७७॥

व्यष्टि, मनुजता, विश्व की, उन्नति, मंगल-अर्थ[५]।
आवश्यक उर-धर्म का, रहना शौच समर्थ॥११७८॥

शुद्ध शील जितनी भली, सोच स्वभावाचार।
जीवन उतना ही रहे, हसमुख सफल सुचार[६]॥११७९॥

थिति विकार की हों, रहे, रख चरित्र अविकार।
वही वस्तुतः धीर है, सत्-दृष्टा सुविचार॥११८०॥

सुख पाना है भोगना, किए स्वयम् के पुण्य।
पर दुख निज चित को करें, निर्मल सुख-हित गुण्य[७]॥११८१॥

परिष्कार चित का करे, प्रगति ऋद्धि स्वयमेव।
सुधरी सुथरी दृष्टि[८] का, सो मन बन, जो देव॥११८२॥

क्रोध-आदि-रिपु क्षुद्रता, कटुता पर-अपहार[९]।
उर से शुचिता छीनते, जनें क्रूर प्रतिकार[१०]॥११८३॥

---

१. विलोल-सुन्दर; २.केत-धन-सम्पत्ति; ३. समवेत-संयुक्त, अन्तर्भूत; ४. सौजन्य-सदाशयता, सज्जनता; ५. अर्थ-के लिये, हेतु; ६. सुचार-सुन्दर, सुचारु; ७. गुण्य-गुणी; ८. दृष्टि-दृष्टिकोण; ९. अपहार-हानि, क्षय; १०. प्रतिकार-बैर निकालना

बने भाव अनुसार ही, कर्म-भावना आप।
विस्तृत करती जन्मती, हृदयहीनता पाप॥११८४॥

कर नहिं दर्पण को सके, कोई विम्ब मलीन।
तस उर रख, जग-कर्ष से, हो न सके जो हीन[१]॥११८५॥

शान्त पर-हिती मन रखें, उर मय-पवित विचार।
जगत् दैन्य दुख दुष्टता, जाएँ तभी सिधार॥११८६॥

बढ़ सम्वेदन शीलता, बढ़े चेतना व्यास।
परम-चेतना से जुड़े, तब निज जीव परास॥११८७॥

निज उर में सम्वेद का, ऐसा बहा प्रपात।
सुने कहे दुख दीन का, करे दूर बन त्रात॥११८८॥

सद्गुण-सभी, मनुष्यता, चिपके उसके साथ।
जीवन में सच है यही, साहस लौकिक नाथ[२]॥११८९॥

दीक्षा लेने मात्र से, शक्य न पाना ज्ञान।
है सम्यक्-आचार का, करना वरन् प्रधान॥११९०॥

निर्मित जस आदर्श हो, तस हो जीवन पाथ।
सदाचार सत्-निष्ठ का, रहता है उत्-माथ॥११९१॥

जीवन में सद्कर्म हैं, ऐसा एक निवेश।
समय कठिन सामान्य में, दें शुभ सफल हितेश[३]॥११९२॥

---

१. हीन-सदोष, नीच; २. नाथ-स्वामी; ३. हितेश-हित+ईश=उपयोगी+ऐश्वर्ययुक्त

विश्व रुचिर[1] व्यवहार ही, होता मानव धर्म।
सो सबको सुख मान दें, जीवन वे ही कर्म॥११९३॥

दशा अकिञ्चन से करें, बहुधा, सब आरम्भ।
किन्तु मिलें सच में खड़े, ससत्[2] श्रमी निर्दम्भ॥११९४॥

निर्मित मूल्यादर्श हों, बरसे सौख्य अनन्त।
अनुशासन पलता, जहाँ, मानवता जीवन्त॥११९५॥

सदाचार रख, शुभ करे, कर्मों में विदमान।
पर विनाशकर सो हटा, मन-पट से अभिमान॥११९६॥

क्या करते हैं दूसरे, क्यों चिन्ता आवेश।
वाणी नहिं, सत्कर्म से, दें, यदि दें उपदेश॥११९७॥

मूल्यादर्शों का करें, जितना आदर मान।
भव-जीवन सुख शान्ति से, उतना हो दिववान[3]॥११९८॥

रक्षण मूल्यादर्श का, दे जीवन को गर्व[4]।
पास करे नित स्वात्म के, बने[5] कर्म सुख-पर्व॥११९९॥

वाणी प्रबल चरित्र की, चाहे नहीं प्रचार।
छू अन्यों का मर्म, दे, उनका मनुज उभार॥१२००॥

गुण दीपक हैं, जो हमें, देते पथिन् प्रबोध।
दूर करें दे प्रेरणा, अन के भी पथ-रोध॥१२०१॥

---

१. रुचिर-मनोहर, सुन्दर; २. ससत्-ईमानदार; ३. दिववान-स्वर्ग;
४. गर्व-गौरव; ५. बने-बनाता है

भुला दिया नर-भाव[१] को, होकर धर्म-विहीन।
मात्र नियति या ठोकरें, उसे करें सद्-लीन॥१२०२॥

ज्ञात ज्ञान-पथ ही नहीं, उन आदर्श, असत्य।
उनें ज्ञान दें, धर्म है, विकसें जो कि अपत्य[२]॥१२०३॥

सबसे बड़ी मनुष्यता, मानुष्यक अनुरोध[३]।
चिन्तन को दें अन्य के, सृजन दिशा-सम्बोध[४]॥१२०४॥

शुचिता से आचार की, हो चिन्तन उत्कृष्ट।
अर्जित अस सामर्थ्य हों, आने न दें अनिष्ट॥१२०५॥

धारण कर अच्छाइयाँ, कितनी भले नगण्य।
बने मनुज व्यक्तित्व का, इनसे भवन-सुधन्य[५]॥१२०६॥

सद्कर्मों से पा सके, जो निज जीवन मूल्य।
ले जा सके समाज को, सत्पथ पर वह पूल्य[६]॥१२०७॥

क्रिया भाव निष्काम से, सदाचार का यज्ञ।
हटे[७] मनस् मालिन्य को, नर को बना अनज्ञ॥१२०८॥

बन सज्जन दय-ही श्रमी, सदाचार सम्पन्न।
शान्ति हर्ष आनन्द हो, तब चित में उत्पन्न॥१२०९॥

करने का भल कर्म ही, अपना बना स्वभाव।
आजीवन सुन्दर लगे, जग का तब बरताव॥१२१०॥

---

१. नर-भाव-मनुजता; २. अपत्य-सन्तान; ३. अनुरोध-कृपा, अनुग्रह; ४. दिशा-सम्बोध-सम्यक् ज्ञान; ५. सुधन्य-प्रशंसनीय; ६. पूल्य-अकिञ्चन; ७. हटे-हटाता है

सुफल अवसि मिल कर रहे, करें कर्म इक ठीक।
स्वतः स्वात्म में आ बसें, शान्ति तोष चित नीक॥१२११॥

समझेंगे, हैं सत्यतः, क्या जीवन के अर्थ।
तब सोचेंगे भी नहीं, अन का लेश अनर्थ॥१२१२॥

अपना अन को लें बना, अस सद्गुण जिन पास।
सचमुच यह संसार है, उनको श्री[1] कैलास[2]॥१२१३॥

छिन्न व्यवस्थायें रहें, छिन्न शान्ति विश्वास।
सत्याचार समाज में, जब हों दुखी उदास॥१२१४॥

कभी किसी का भी करे, नहीं अहित अपकार।
उससे रखे न कोउ भी, ईर्ष्या द्वेष बिगार[3]॥१२१५॥

सामाजिक सन्दर्भ में, रखती उन्नति अर्थ।
पतन अभल कर अन्य का, यह ध्वनि मात्र निरर्थ॥१२१६॥

दूर-दृष्टि से जाँच लें, रख नैतिक आधार।
निर्णय तब ही लक्ष्य दे, होकर लोक उदार॥१२१७॥

उदर पूर्ति-हित जो करें, निशि दिन अति संघर्ष।
उन प्रति सेवा-दृष्टि ही, नर-महि[4] सत्-उत्कर्ष॥१२१८॥

स्वयम् कष्ट में हो, न दे, फिर भी अन को कष्ट।
शान्ति हर्ष परिवेश में, सृजे नन्द, वह स्रष्ट[5]॥१२१९॥

---

१. श्री-प्रभा; २. कैलास-स्वर्ग; ३. बिगार-झगड़ा, अनबन;
४. महि-महत्ता; महानता; ५. स्रष्ट-रचयिता

जुड़ी सुफल उपयोग से, कर्मठता[1] है पुण्य।
इससे फलित, समाज को, क्योंकि बने शुभ गुण्य[2]॥१२२०॥

सज्जनता शालीनता, नैतिकता परमार्थ।
संयम प्रेम उदारता, आवश्यक सेवार्थ॥१२२१॥

फले लोक-परमार्थ से, तुरत साधना, साध!।
आशिष[3] उपकृत[4] हीय से, क्योंकि झरें निर्बाध॥१२२२॥

जो अभाव में, दे उनें, भले नहीं सम्पन्न।
सच में प्रभु पूजा यही, जो दे उरस् प्रसन्न[5]॥१२२३॥

सेवा, कृपा जताए बिन, की बिन साधे स्वार्थ।
कोउ न अस प्रभु प्रार्थना, पूजन अर्घ्य यथार्थ॥१२२४॥

जितना उपयोगी बनें, जो जितनों के हेत।
उतना आदर पा सके, वह सहयोग समेत॥१२२५॥

आवश्यकता-युक्त को, दे इच्छित सर्वस्व।
मर्षी[6] धर्मी सद्-पथी, पाव देव वर्चस्व[7]॥१२२६॥

विश्व हितों की कामना, से निज सुख का त्याग।
साहस सर्वाकृष्ट[8] है, अनुपम योग निराग[9]॥१२२७॥

सर्व हितों हित कीजिए, निज संकल्प उदार।
उर को सन्तत जो कि दें, मंगलमय उजियार॥१२२८॥

---

१. कर्मठता-कर्मशीलता; २. गुण्य-वर्णनीय; ३. आशिष-आशीर्वाद; ४. उपकृत-जिसका उपकार किया गया हो; ५. प्रसन्न-निर्मल, शान्त; ६. मर्षी-सहनशील; ७. वर्चस्व-तेज; ८. सर्वाकृष्ट-सर्वोत्तम;

कभी निराशा पालना, नहिं जीवन में तात।
अवसर जय के अन्यथा, खो जाते बिन बात॥१२२९॥

सबको शान्ति प्रसन्नता, दे पावन व्यवहार।
सर्वहिती कल्याण का, सो बन प्रिय आकार॥१२३०॥

जाना जानन-योग्य को, पा ली, दृष्टि-विवेक।
नहिं अस ज्ञानी को सके, सता मन-व्यथा एक॥१२३१॥

सर्व-सुमंगल कर्म में, साहस का मकरन्द।
अनौचित्य से सर्वदा, है घर्षण आनन्द॥१२३२॥

गहन शान्ति मन को मिले, अस पथ कर निर्माण।
चल, दे प्रभु जो, तोषकर, बन परार्थ जी, प्राण!॥१२३३॥

वचन कर्म संकल्प में, रखते सेवा-भाव।
'सभी सुखी हों' को जिएँ, अस बिन स्वार्थ, लगाव[१]॥१२३४॥

दृष्टिकोण उत्कृष्टता, गतिविधियाँ शालीन।
दूरदृष्टि व्यक्तित्व को, करतीं उच्चासीन॥१२३५॥

रखता साधनहीन भी, यदि अन्तः गुणवान।
बना सके निज व्यक्ति को, ऋषियों सरिस महान॥१२३६॥

शान्ति सहजता[२] में रखे, जीवन यदि विश्वास।
उदित विवेकी सोच हो, सरसें[३] उरस् समास[४]॥१२३७॥

---

१. लगाव-मोह, सम्बन्ध; २. सहजता-नैसर्गिक न्याय में;
३. सरसें-पनपता; ४. समास-सम्बन्ध

वाणी को विश्राम दें, चेतन मन को काम।
सहज क्रिया मस्तिष्क की, तब दे शुभ परिणाम॥१२३८॥

है मानवता की धरा, नैतिकता की शक्ति।
आत्मसात कर स्वीयता, बढ़े[1] परस्पर रक्ति[2]॥१२३९॥

श्री सम्पद् साफल्य के, सुख दें जो आश्चर्य।
मंगल चिन्तन कर्म हैं, वे अन्त: सौन्दर्य॥१२४०॥

पर-सुख में उत्फुल्ल हों, दुख में दुख अनुभूति।
परम धन्य उन कर्म में, महके धर्म विभूति[3]॥१२४१॥

कर्म न उसके पाप हैं, जिसके मन नहिं स्वार्थ।
लख यह सत् सन्देश दे, जीवन कर्म परार्थ॥१२४२॥

आत्मसात कर श्रेष्ठ को, करते स्वयम् सुधार।
मात्र न भवि उज्ज्वल बने, पावें भी प्रभु प्यार॥१२४३॥

सरस अनिल[4] सम सृष्टि को, रवि सम बाँट प्रकास।
बरस मेघ कर्तव्य का, विधु[5] सम बिखर विहास[6]॥१२४४॥

है मानव उत्कृष्टता, करने में शुभ कर्म।
तभी निरन्तर चेतना[7], बढ़ समझे सत् मर्म॥१२४५॥

पर हित सम्वर्धन करें, और संशमन[8] स्वार्थ।
अँकुरेगा तब प्रेम का, उरस् बीज भूतार्थ[9]॥१२४६॥

---

१. बढ़े-बढ़ाती है; २. रक्ति-प्रेम; ३. विभूति-महत्ता, प्रचुरता, शक्ति; ४. अनिल-वायु; ५. विधु-चन्द्रमा; ६. विहास-मुस्कान; ७. चेतना-सम्पूर्ण को समझने की सूक्ष्मता; ८. संशमन-नष्ट करना; ९. भूतार्थ-प्राणियों के लिये

अन्तः को पावन करें, दें प्रशान्ति चित-नर्म[१]।
पूजा है भगवान् की, करना सतत् सुकर्म॥१२४७॥

प्राप अयश-यश की रहे, चिर दुर्वास सुवास।
सो कर अस, जग-पीढ़ियाँ, जो पावें उद्भास[२]॥१२४८॥

करना उन सिद्धान्त से, समझौता लख बार।
बना सकें जो सर्वदा, एक समाज उदार॥१२४९॥

कर्मों से पर-हित हटे, मिल न सके तब शर्म[३]।
लख अस-थिति सन्देश दे, जीवन सतत् सुकर्म॥१२५०॥

ईश्वर का वरदान है, अन्तः मनुज प्रत्यक्ष।
यही समझ, सद्कर्म का, जीना जीवन लक्ष॥१२५१॥

वर्तमान अस्तित्व को, निर्मित करे अतीत।
सो अब कर सद्कर्म जो, हो भवि[४] नीक[५] प्रतीत[६]॥१२५२॥

पर-हित को दें कर्म में, जब आदर सम्मान।
सतयुग आ तब फूँकता, प्राणों में सत्-प्रान॥१२५३॥

ऐसे जी जग कह सके, था वह महा नहुष्य[७]।
जो कि सर्व कल्याण में, लगा गया आयुष्य[८]॥१२५४॥

लगे दृष्टि[९] स्वीकारने, जब सद् भाव विचार।
तब धरती पर स्वर्ग भी, जाता स्वतः पसार॥१२५५॥

---

१. नर्म-नम्रता; २. उद्भास-प्रकाश; ३. शर्म-सुख, सुखी; ४. भवि- भविष्य; ५. नीक-भला, अच्छा; ६. प्रतीत-प्रसन्न; ७. नहुष-सन्त, विष्णु; ८. आयुष्य-जीवन-शक्ति; ९. दृष्टि-सोचने विचारने का पहलू

जग-गति में अनुभूत

आत्म-तत्व के भेद को, जब ले समझ विवेक।
तब यात्रा प्रभु ओर में, कर्म एक पग एक॥१२५६॥

चुनते अन्तर-आत्म से, मन से रहें विलग्न[१]।
पाव कर्म अनुकूलता, वे उल्लास अभग्न[२]॥१२५७॥

जब दृष्टा की दृष्टि को, ढक ले दृश्य-पदार्थ।
जी[३] तब बन्धन में बँधे, भूले स्वयम् यथार्थ॥१२५८॥

विभु सत्ता को दें नहीं, कभी मान्यता मान।
तृप्त न हों उन एषणा, अघ के जनें रुझान॥१२५९॥

भूमि वस्तुतः सत्य की, ज्यों ज्यों पाता ज्ञान।
चित मनुजत्व उदारता, त्यों त्यों बनें महान॥१२६०॥

जाग्रत की मेधा रहे, वर्धमान द्युतिमान।
किन्तु अचेते का कभी, चमके नहिं दिनमान॥१२६१॥

मात्र स्वहित की दृष्टि को, भुला भुला हंकार।
तब तव शुभ परिणाम के, स्वतः बढ़ें आधार॥१२६२॥

जिसे भाव निष्पक्ष से, सम्यक् कहे विवेक।
मात्र उसे अपना भले, साक्ष्य न भी हो, एक॥१२६३॥

---

१. विलग्न-संलग्न; २. अभग्न-अबाधित; ३. जी-जीव

नहिं, गज पर सामर्थ्य के, अंकुश रखे विवेक।
लग जाता तब रौंदने, निज पर हित प्रत्येक॥१२६४॥

रखे धौंकनी आग को, जस निर्धूम अभंग।
तस विवेक को दे सके, दीप्ति निरत[1] सत्संग॥१२६५॥

अवसर, व्यक्ति, महान से, जुड़ना ही सौभाग्य।
दूरदर्शिता आ करे, क्योंकि पूर्ण तब साध्य॥१२६६॥

श्रम बल बुद्धि समर्थता, जिसमें साहस धीर।
सब वह अर्जित कर सके, जग से जुड़ बिन भीर॥१२६७॥

है भोगेच्छा कामना, नहीं, गई धी जाग।
उसका पाव असीमता, स्वात्मा में अनुराग॥१२६८॥

जस नभ में दोउ पाँख से, खग भर सके उड़ान।
ज्ञान कर्म समवेत से, तसहि सुलभ सन्धान[2]॥१२६९॥

श्रद्धा रखे विवेक से, इन्द्रिय-विषय अधीन।
ज्ञान पाव, मन शान्त हो, तब वह कर्म-गुणीन॥१२७०॥

परिचय जिसका कर्म दें, तजे निन्द अवमान[3]।
सत्य मधुर प्रिय-भाष का, बने धैर्य बलवान॥१२७१॥

प्रश्न प्रतिष्ठा का बना, करें गौण भी काम।
नीक उच्च हित लाभ के, दे भविष्य तब ठाम[4]॥१२७२॥

---

१. निरत-निरन्तर; २. सन्धा-लक्ष्य; ३. अवमान-अपमान; ४. ठाम-अवसर

श्रेष्ठ उपार्जित कर सकें, नहिं अलसित असमर्थ।
निरानन्द नीरस रहें, उनके जीवन-अर्थ[1]॥१२७३॥

मात्र एक सद्-साध को, रखकर करे प्रयास।
शनैः शनैः पाकर रहे, वह प्रभु का भी आस[2]॥१२७४॥

जला रक्त निज अस्थियाँ, कर ले पन्थ प्रकाश।
नहिं रुकता झुकता, भले, सम्मुख लाख विनाश[3]॥१२७५॥

जैसी होती कामना, वैसे बनें विचार।
तब निश्चय दृढ़ हो, ढले, कर्म, कर्म का सार[4]॥१२७६॥

बुने स्वार्थ-संकीर्णता, भव के बन्धन-जाल।
मुँह मोड़े इससे, बने, उरस् पुनीत सुलाल॥१२७७॥

कटु कठोर अन्तः रखे, ऊपर बेर, मिठास।
करे दुष्टता दुष्ट में, भेद भरी तस वास॥१२७८॥

मल-धब्बा परिधान को, करता आभाहीन।
तस अघ लाञ्छन दे, किया, मुख पर मढ़े मलीन॥१२७९॥

जीवों पर करुणा करे, हो भी अहम्-विहीन।
वह निज सत्य-स्वरूप में, होता स्वतः निलीन॥१२८०॥

सम्यक् विषयों में रहे, अहम्-रहित अविकार।
उसे न उसके ही, करे, जन-साधारण प्यार॥१२८१॥

---

१. अर्थ-प्रयोजन, लक्ष्य, कार्य; २. आस-सामीप्य, आसन;
३. विनाश-संकट; ४. सार-फल, परिणाम

जग-हित के उपयोग की, बने सर्वदा पोष।
वही सफलता साँच है, अपनी जो दे तोष॥१२८२॥

नहीं पुरातन लेखनी, पत्थर खिँची लकीर।
मिले जहाँ, खोजें चुनें, पथ सत् सम्यक् थीर[1]॥१२८३॥

उदर-पूर्ति जितना करे, उतना ही, निज द्रव्य।
स्वत्व अधिक पर मानना, निरा भरम् द्रष्टव्य[2]॥१२८४॥

छल प्रवञ्चना भीरुता, नर नर हो पाखण्ड।
राष्ट्र पाव वह दासता, या वह रहे विखण्ड[3]॥१२८५॥

निज मन सत् पर चल करे, नर का जो उपकार।
मिन्त बन्धु पितु-मातु भी, उतना न दें सँवार[4]॥१२८६॥

महा-प्रयोजन में लगे, क्षमता, अपव्यय-रोक।
साधारण से बन सके, अनुपम तब नर-लोक॥१२८७॥

जोड़ें स्वार्थ-परार्थ को, रोक स्वहित-उकसाव।
हटें वाद तब मन बसे, क्षोभ अतोष अभाव॥१२८८॥

हटे कामना-रूप की, डाकिन का आवेश।
कर तब अन्तः में सके, मानव-धर्म प्रवेश॥१२८९॥

दो दिन तृष्णा वासना, मात्र रखें नहिं पास।
स्वतः निभे तब धर्म, हो, अनुभव चिर सुख वास[5]॥१२९०॥

---

१. थीर-स्थिर; २. द्रष्टव्य-देखने दिखाने योग्य; ३. विखण्ड-टुकड़ों में बँटा हुआ; ४. सँवार-सहारा; ५. वास-सुगन्ध
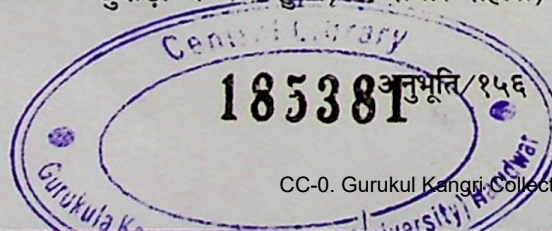
तब तक विषयाकाश में, मन खग भरे उड़ान।
जब तक उसे दबोचता, नहिं यथार्थ का ज्ञान ॥

स्वयम् कोउ बन्धन नहीं, नहिं जग माया जाल।
सब कुछ है दुर्भावना, मन भटकन, सो टाल॥

वैभव मत्त न कर सके, संकट हरे न मान।
जब हो कर्तव्यों तई, जीवन निष्ठावान॥

भली-भाँति कर्तव्य का, पालन जीवन-श्वास।
क्योंकि लाज मर्याद का, इसमें ही सत्-वास॥

कोउ न भूषण शील सा, निधि अस नहिं जस दान।
मिले शत्रु नहिं लोभ सा, धन नहिं तोष समान॥

धर्म दया सा है नहीं, गुण नहिं सत्य समान।
नहीं क्षमा सी शूरता, आत्म-भान सा ज्ञान॥

पाँवों पर आँखें रखें, सत् से युत् हों बोल।
दे उनको संसार भी, जीवन सुखद विलोल॥

विरथा हैं उसके सभी, धन पद यश साफल्य।
शेष नहीं जिसमें रहा, नयन उरस् तारल्य॥

वे अपने, पर शेष हैं, जब हो यह अलगाव।
तब उर-धर्म अधर्म हो, जग को दे दुख घाव॥

प्रकाशक एवम् वितरक :
डॉ. बुद्धि प्रकाश शर्मा
३१५, नई-बस्ती, बिजनौर,
उत्तर प्रदेश (भारतवर्ष)